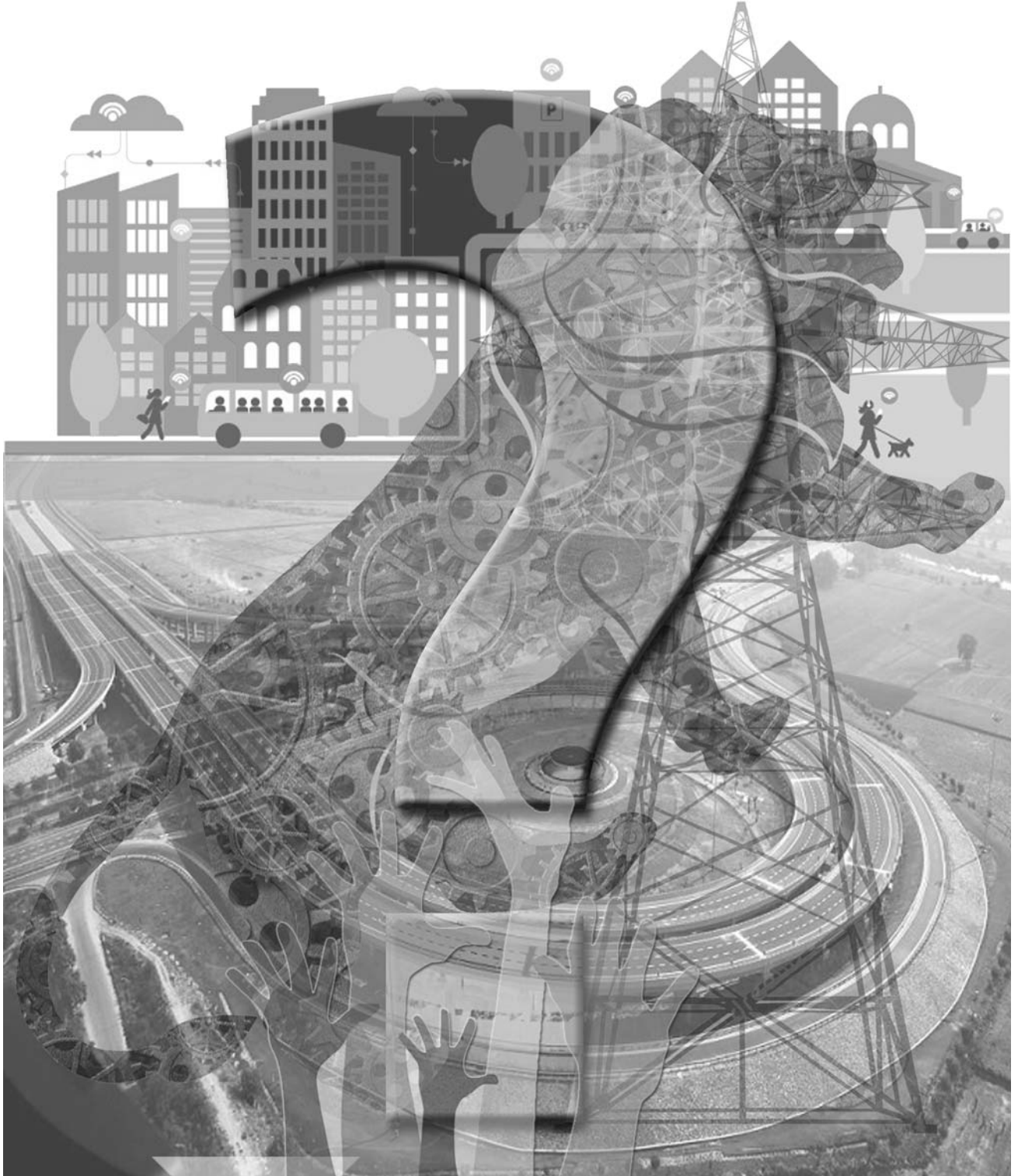


# समरथ



जनवरी-फरवरी 2015 ♦ नई दिल्ली



# नाहि तो जनम नसाई

2015 का यह पहला अंक जिसकी पृष्ठभूमि में है दक्षिण एशिया के मुल्कों में जम्हूरियत का छीजता स्पेस, प्रतिवाद के स्वरो को चुप कराने का सिलसिला, अक्लियत (अल्पसंख्यक) पर हमलों का सिलसिला और उन सबके बीच 'विकास' का तीखा मदमाता संगीत। बचपन में हम किस्से सुनते थे कि नागिन बीन की धुन पर मदमस्त हो जाती है, विकास की बीन पर देश ऐसे ही मदमस्त हो झूम रहा है और हम जागती आंखों में झूठे ख्वाब भर रहे हैं। इस संगीत में शामिल है कुछ और कर्कश स्वरलहरियां 'स्मार्ट सिटी', 'एक्सप्रेस हाइवे', 'इंडस्ट्रीयल कॉरिडोर', 'पॉवर सेक्टर', 'मेक इन इंडिया' आदि।

इस कानफोडू संगीत के बीच दबे हुए हैं सुर स्वराज के, विकेंद्रीकरण के, स्वशासन के और संसाधनों पर समुदाय के हक के। इस बेसुरे समय में बेशक यह सुर मंद पड़ गए हैं पर इनकी गूँज है। लोगों के संघर्ष जारी हैं देश के कोने-कोने में। लोग जानना चाहते हैं इस चमकते सरकारी, कार्पोरेटी पैकिंग पेपर के पीछे का सच। ऐसा नहीं है कि पूरा देश इन झूठे सपनों का खरीदार है। इन सपनों को नकारने वाले हैं वे 'जन' जिनकी छाती पर विकास का नगाड़ा बजेगा और बज रहा है। इसके नकारने वाले हैं चंद वे लोग जो इस विकास की कोख में छिपा निर्मम सांघातिक भविष्य देख पा रहे हैं।

यह बसंत का भी मौसम है और बसंत हमारे दो महान कवियों का जन्मदिन है नज़ीर अकबराबादी और निराला। इस अंक में प्रस्तुत है बसंत की अगुआई करती नज़ीर की एक रचना और निराला की दो रचनाएं उनके निराले अंदाज में।



## ■ नज़ीर अकबराबादी

मिलकर सनम<sup>1</sup> से अपने हंगाम<sup>2</sup> दिल कुशाई<sup>3</sup>।  
हंसकर कहा यह हमने ऐ जा! बसंत आई।  
सुनते ही उस परी ने गुल गुल<sup>4</sup> शगुफ़ता<sup>5</sup> होकर।  
पोशाक ज़र फ़िशानी<sup>6</sup> अपनी वोंही रंगाई।  
जब रंग के आई उसकी पोशाक पुर नज़ाकत।<sup>7</sup>  
सरसों की शाख<sup>8</sup> पुर गुल<sup>9</sup> फिर जल्द एक मंगाई।  
एक पंखुड़ी उठाकर नाजुक सी उंगलियों में।  
रंगत फिर उसकी अपनी पोशाक से मिलाई।  
जिस दम किया मुक़ाबिल<sup>10</sup> कसवत से अपने उसको।  
देखा तो उसकी रंगत उस पर हुई सवाई।  
फिर तो बसद<sup>11</sup> मुसरत<sup>12</sup> और सौ नज़ाकतों<sup>13</sup> से।  
नाजुक बदन पर अपने पोशाक वह खपाई।  
चम्पे का इत्र मलकर मोती से फिर खुशी हो।  
सीमी<sup>14</sup> कलाइयों में डाले कड़े तिलाई<sup>15</sup>।  
बन ठन के इस तरह से फिर राह ली चमन की।  
देखी बहार गुलशन बहरे तरब<sup>16</sup> फ़िजाई<sup>17</sup>।  
जिस जिस रविश<sup>18</sup> के ऊपर जाकर हुआ नुमाया<sup>19</sup>।  
किस किस रविश से अपनी आनो अदा<sup>20</sup> दिखाई।  
क्या क्या बयां हो जैसे चमकी चमन-चमन में।  
वह ज़र्द पोशी उसकी, वह तर्जे दिलरुबाई<sup>21</sup>।

सदबर्ग<sup>22</sup> ने सिफ़त<sup>23</sup> की नरगिस ने बेतअम्मूल<sup>24</sup>।  
लखने को वस्फ़<sup>25</sup> उसका अपनी क़लम उठाई।  
फिर सहन में चमन के आया बहुस्नो<sup>26</sup> खूबी।  
और तरफ़ा तर<sup>27</sup> बसंती एक अन्जुमन<sup>28</sup> बनाई।  
उस अन्जुमन में बैठा जब नाज़ो<sup>29</sup> तमकनत<sup>30</sup> से।  
गुलदस्ता<sup>31</sup> उसके आगे हंस-हंस बसंत लाई।  
की मुतरिबो<sup>32</sup> ने खुश खुश आगाज़े<sup>33</sup> नगमा साज़ी<sup>34</sup>।  
साकी<sup>35</sup> ने जामे ज़री<sup>36</sup> भर भर के मै<sup>37</sup> पिलाई।  
देख उसको और महफिल उसकी नज़ीर हरदम।  
क्या-क्या बसंत आकर उस वक्त जगमगाई।

1. प्रिय पात्र
2. कोलाहल
3. दिल को आनन्द देने वाला
4. फूलों से
5. प्रसन्न (फूलों से सजकर)
6. सोना बिखेरने वाली सुनहरी किरणें
7. नज़ाकत से भरी हुई
8. टहनी
9. फूलों से लदी हुई
10. सामने
11. सैकड़ों
12. खुशी
13. कोमल
14. चांदी जैसी
15. सुनहरे रंग के
16. आनन्द
17. बढ़ाने वाली
18. चाल, पद्धति
19. प्रकट
20. हाव-भाव
21. हाव-भाव
22. सौ पत्तियों वाला गेंदा
23. प्रशंसा
24. निःसंकोच, बेखटके
25. गुण
26. सुन्दरता के साथ
27. तत्कालीन
28. महफिल
29. हाव-भाव
30. अभिमान, गर्व, घमंड
31. फूलों का गुच्छा
32. गायक, रागी
33. प्रारंभ
34. सुरीला गान
35. शराब पिलाने वाला
36. सुनहरा मदिरा पात्र
37. शराब

## दाल का गीत

(खास 'रूपाभ' के लिए प्रस्तुत)

तुम चुरौ दालि महरानी!  
हरदी परे ते जरदी आई,  
निमक परे मुसुक्यानी,  
भात-भतार ते भेंट भई,  
तब प्रेम-सहित लिपट्यानी!

## कालेज का बचुआ

जब से एफ.ए. फेल हुआ,  
हमारा कालेज का बचुआ।

नाक दाबकर सम्पुट साधै,  
महादेवजी को आराधै,  
भंग छानकर रोज़ रात को  
खाता मालपुआ।

वाल्मीकि को बाबा मानै,  
नाना व्यासदेव को जानै,  
चाचा महिषासुर को, दुर्गा  
जी को सगी बुआ।

हिन्दी का लिक्खाड़ बड़ा वह,  
जब देखो तब अड़ा पड़ा वह,  
छायावाद रहस्यवाद के  
भावों का बटुआ।

धीरे-धीरे रगड़-रगड़ कर  
श्रीगणेश से झगड़-झगड़ कर,  
नत्थाराम बन गया है अब  
पहले का नथुआ।

हमारे कालेज का बचुआ।

# भाषाई मानवाधिकार का मसला

■ लाल्टू

मराठी साहित्य में अपने योगदान के लिए इस साल ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले भालचंद्र नेमाड़े ने कहा है कि अँग्रेजी की वजह से भारतीय भाषाएं खत्म हो रही हैं। वे इससे भी आगे बढ़ कर यहाँ तक कह गए हैं कि हमें अँग्रेजी को हटाने के लिए प्रभावी कदम उठाने चाहिए। सलमान रुश्दी और सर विद्या नायपॉल का जिक्र करते हुए नेमाड़े ने कहा कि भारतीय भाषाओं में जो लिखा जा रहा है, उसके मुकाबले में उनका लेखन कहीं भी नहीं ठहरता। अँग्रेजी की पैरवी करने वालों ने उनकी मूल बात को नजरअंदाज करते हुए रुश्दी के साथ उनकी झड़प का संज्ञान लिया। रुश्दी ने नेमाड़े को 'ग्रंपी ओल्ड मैन' (तुनकमिजाज बूढ़ा) कहा और अब हम इंतजार में हैं कि पंद्रह साल पहले भारतीय साहित्य पर संकलन की भूमिका लिखते हुए जब रुश्दी ने भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य को सिरे से नकार दिया था, उसे याद करते हुए उन्हें कोई अनपढ़ अँग्रेजीपरस्त कब कहने वाला है!

अँग्रेजी को लेकर आखिर क्या समस्या है? आजकल कई लोग यह सवाल उठाते हैं। इसके वाजिब कारण हैं। आखिर अँग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा बन चुकी है। विज्ञान और दीगर तकनीकी विषयों में अँग्रेजी जाने बिना आप कहीं के नहीं रहते। कुछ दलित बुद्धिजीवियों का मानना है कि अँग्रेजी ही दलितों की मुक्ति का रास्ता है। अँग्रेजी के खिलाफ बोलने वाले अक्सर संघी टाइप के सीनापीटू स्वघोषित राष्ट्रभक्त होते हैं, जिनसे देश और समाज को खतरा बढ़ता जा रहा है। कई तो यह सपना देखते रहते हैं कि संस्कृतनिष्ठ जिस भाषा को सरकारी हिंदी कहा जाता था, वह कभी विश्व-भाषा बन जाएगी। पर नेमाड़े की मूल बात कुछ और है, जिसको समझना जरूरी है। यह ध्यान रहे कि नेमाड़े खुद आजीवन अलग-अलग स्तर पर अँग्रेजी पढ़ाते रहे हैं। इसलिए उनको अँग्रेजी का विरोधी मानना गलत है।

अँग्रेजी को लेकर समस्या भाषा की नहीं, बल्कि अँग्रेजी वालों की है, जो इस समाज का सुविधा-संपन्न वर्ग हैं। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, पर हम जब देश की बात करते हैं तो अक्सर उसमें से लोक गायब रहता है। भाषा की समस्या लोक से जुड़ी है। पिछले दो सौ सालों से तालीम की भाषा का संदर्भ महत्वपूर्ण होता गया है, क्योंकि पिछले जमानों की तुलना में आधुनिक अर्थ में साक्षरता में बढ़त होती रही है। ऐसा नहीं कि पहले साक्षरता कम थी, पर उस साक्षरता का मतलब कुछ और था।

आज हम मानते हैं कि दूरदराज इलाकों में भी नागरिकों में सरकारी तंत्र और लोकतंत्र की समझ होनी चाहिए। न केवल स्थानीय बल्कि राष्ट्रीय स्तर तक के प्रशासन में परोक्ष रूप से सभी नागरिकों की भागीदारी को हम लोकतंत्र की नींव मानते हैं। इसके लिए जैसी साक्षरता चाहिए, वह हमारे समाज में आज भी एक तिहाई जनता के पास नहीं है। पर कामगार अपने काम पारंपरिक ढंग से सीखते हैं और उसमें एक दर्जे की गहराई होती है, जिसे हम लोकविद्या कह सकते हैं - ऐसी साक्षरता हमेशा ही रही है और इसी के बल पर यह देश आगे बढ़ता रहा है।

दो सौ साल पहले तत्कालीन चिंतकों ने इस बात को समझा कि यूरोप में विज्ञान-टेक्नोलोजी और सामाजिक-राजनीतिक विचारों में बड़ी तेजी से बदलाव आए हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में गंभीर बौद्धिक चर्चाएं जिन भाषाओं में होती थीं, जैसे संस्कृत और फारसी, उन्हें समझने वाले लोग संख्या में बहुत कम थे। इसके अलावा इन भाषाओं में महारत रखने वाले लोग कुलीन पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थे। संस्कृत ब्राह्मणवादियों के, तो फारसी इस्लामी अमीरात के जकड़ में थी।

आधुनिक भाषाओं में, जैसे उत्तर भारत (आज हिंदी और अन्य भाषाओं का व्यापक भूखंड, जिसे हिंदी क्षेत्र कहा जाता है) में ब्रज, अवधी आदि में पुराने ग्रंथ लिखे जा रहे थे; रामायण, महाभारत से लेकर रसशास्त्र तक लिखा जा चुका था, पर विज्ञान, टेक्नोलोजी आदि का कुछ भी मौजूद नहीं था। इसका एक ही अपवाद था - उर्दू। दिल्ली कॉलेज के अध्यापकों और शोधकर्ताओं की टीम लगन के साथ आधुनिक यूरोपीय ज्ञान का अनुवाद कर रही थी। ऐसी कोशिश बांग्ला जैसी भाषाओं में भी बाद में हुई।

जो भी हो, उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों ने बर्तानिया की सरकार से पैरवी की कि हिंदुस्तान में अँग्रेजी में तालीम का इंतजाम किया जाए। ये ऐसे लोग थे जिन्हें उर्दू में लिखी जा रही आधुनिक बौद्धिक सामग्री का कुछ पता न था - या यों कह सकते हैं कि उर्दू वालों को उन्नीसवीं सदी के आखिर में ही समझ में आया कि हम अँग्रेजों के गुलाम हो गए हैं। ब्रिटिश संसद में लंबी बहस के बाद और लॉर्ड मैकाले के प्रभावी हस्तक्षेप के बाद 1835 में यह निर्णय लिया गया कि सीमित लागत के साथ अँग्रेजी में तालीम शुरू की जाएगी। प्रशासनिक कारणों से और संसाधनों की कमी दिखलाते हुए यह तय पाया गया कि अँग्रेजी तालीम कुछ तबकों तक सीमित रहेगी। भारत में

अँग्रेजी वालों की एक जमात तब से बनना शुरू हुई।

इन अँग्रेजी वालों की ही समझ थी कि देश को धर्म के आधार पर बाँटा जाए और ये बहस हिंदुस्तान में होने से पहले इंग्लैंड के कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में पढ़ते हिंदुस्तानी संपन्न वर्गों के लोगों में हुई। उस जमाने में साक्षरता इतनी कम थी कि यह संभव न था कि हर आधुनिक भारतीय भाषा में आधुनिक ज्ञान आसानी से उपलब्ध करवाया जा सके। नतीजा यह रहा कि कई पीढ़ियाँ औपचारिक स्कूली तालीम अपनी भाषाओं से हट कर और भाषाओं में पाती रहीं। इसका सबसे ज्यादा नुकसान हिंदी क्षेत्र में हुआ, क्योंकि राष्ट्र-निर्माण की अजीब धारणा यहाँ पनपी, जिसके अनुसार एक कृत्रिम संस्कृतनिष्ठ भाषा बनाई गई, जिसे पूरे हिंदी क्षेत्र में कोई नहीं बोलता था। विडंबना यह थी कि स्कूली तालीम आज भी आधी जनता को नसीब नहीं है, इसलिए उस अन्याय से वे बचे रह गए। पर जो स्कूलों में पढ़ने गए, उनमें से अधिकतर अँग्रेजी और कृत्रिम हिंदी जैसी भाषाओं में जहोजहद करने में विफल रह कर प्राथमिक स्तर से भी ऊपर न आ पाए।

अँग्रेजी वालों को तो अँग्रेजीपरस्त होना ही था, बाकी लोगों में भी अँग्रेजी के खौफ की वजह से यह समझ घर कर गई कि बिना अँग्रेजी के काम चल नहीं सकता। अँग्रेजी वाले अँग्रेजी में बहस करते रहे कि भाषा का व्यक्तित्व-निर्माण में बड़ा महत्त्व है, पर उन्हीं की मेहरबानी से अपनी भाषा में तालीम धीरे-धीरे गायब होती गई। अँग्रेजी वालों की चालाकी के कई पहलू हैं, जिनमें से एक यह तर्क है कि आप मातृ-भाषा में तालीम कैसे देंगे, आखिर कई कबीलाई लोगों की भाषा में तो कुछ सामग्री है ही नहीं। जनता की समस्याओं पर उदारवादी नजरिए का ढोंग दिखलाते हुए ऐसे लोग न तो कबीलाई लोगों की भाषाओं पर कोई काम करते हैं और न उनके इलाकों के आस-पास की भाषाओं में तालीम को चलने देना चाहते हैं। इसके विपरीत गंभीर समर्पित भाषाविद् ऐसी बहुभाषीय तालीम की लड़ाई लड़ रहे हैं, जिसमें प्रारंभिक स्तर पर तालीम बच्चे की अपनी भाषा के अलावा आस-पास की सबसे करीब की भाषा में दी जाए।

पहले यह संभावना दिखती नहीं थी कि अपनी भाषाओं में सब कुछ पढ़ा-लिखा जा सकता है, हालाँकि चीन, जापान, इजराइल जैसे कई देशों ने बिना किसी दुविधा के यह कर दिखलाया था। अब यह कठिनाई भी काफी हद तक दूर हो चुकी है, बशर्ते इस पर काम करने की मंशा हो। आज मशीनों की मदद से एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद बहुत आसान हो गया है। बची-खुची जो दिक्कतें हैं, उनकी बड़ी वजह यह है कि इसको अपनाने वाले लोग कम हैं, इसलिए जरूरी तकनीकी विकास भी धीमी गति से हो रहा है।

इस पूरी बहस में एक बात सबसे पहले कही जानी चाहिए

कि अपनी भाषा में तालीम का मतलब यह नहीं कि अँग्रेजी का विरोध करना है। अँग्रेजीपरस्त लोग इसी बात को पहले रखते हैं कि अँग्रेजी का विरोध हो रहा है और यह भारी अन्याय है। नेमाडे ने अपने बयान में कहा है कि वे अँग्रेजी का विरोध नहीं करते। सवाल यह है कि क्या हम देश के हर नागरिक को समर्थ और सशक्त बनाना चाहते हैं, अगर हाँ तो हमें दुनिया भर के शिक्षाविदों का कहना मानना पड़ेगा कि प्रारंभिक तालीम अपनी भाषा में हो। जिन्हें अँग्रेजी से वास्ता रखना है, जब तक तकनीकी ज्ञान अँग्रेजी में ही मिल रहा है, उन्हें तो अँग्रेजी सीखनी ही होगी। शिक्षाविदों का मानना है कि अपनी भाषा में महारत पाने के बाद ही हम किसी और भाषा को जानने-सीखने के काबिल हो पाते हैं। इसलिए कम-से-कम प्राथमिक स्तर तक तो अँग्रेजी शिक्षा का कोई मतलब ही नहीं है। दलित बुद्धिजीवियों की लड़ाई जातिप्रथा और मनुवादियों के खिलाफ है, उन्हें यह बात समझनी होगी कि अँग्रेजी को अपनाने में उन्हें कोई फायदा नहीं है।

जब नेमाडे साहित्य के स्तर की बात करते हैं तो वह सही कह रहे हैं। जिन्होंने अँग्रेजी में उपलब्ध विश्व साहित्य के साथ भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य को पढ़ा है, वे जानते हैं कि भारतीय अँग्रेजी में लिखा गया साहित्य अभी बहुत पीछे है। अँग्रेजी वालों के पास सत्ता और ताकत है तो उनकी चलती है। इसलिए शोरगुल में वे आगे हैं। पर अदब सिर्फ शोरगुल का मामला नहीं है। तमाम मुश्किलों के बावजूद भारतीय भाषाओं में जो सर्जनात्मक साहित्य लिखा जा रहा है, उसका औसत स्तर भारत से अँग्रेजी में लिखे से गुणात्मक और परिमाणत्मक दोनों स्तर पर काफी बेहतर है। भारतीय भाषाओं में लिखने वाले ऐसे कई लेखक हैं जो अँग्रेजी में एक जैसी काबिलियत से लिख सकते हैं, पर भारतीय अँग्रेजी लिखने वाले वे लोग हैं जो भारतीय भाषाओं में नहीं लिख सकते। रुश्दी ने जब भारतीय भाषाओं के साहित्य को नकारा था, उसकी वजह सिर्फ यही थी कि वे वाकई भारतीय भाषाओं में अनपढ़ हैं। हर अँग्रेजीपरस्त हमें अँग्रेजी लिखत के उद्धारण सुनाने को आतुर होता है, जबकि उतनी ही या अधिक महत्त्वपूर्ण बात अपनी भाषा में कही जाए तो उसे वह अनसुना करता है।

आखिरी बात यह कि भाषा का मुद्दा राष्ट्रवाद का नहीं, इंसानियत का मुद्दा है। आज यह संभव है कि हर भाषा में तालीम दी जा सके, हर किसी भाषा को बोलने वाले को सुविधा हो कि वह राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मुद्दों में भागीदारी कर सके। मुल्कों में आपसी जंगों और जनता पर दमन जारी रखने के लिए सरकारें जो खर्च किया करती हैं, उससे कहीं कम लागत में भाषाओं की विविधता को बचाए रखना संभव है। यही भाषा का असली मुद्दा है। यही असली खलिश है। अँग्रेजी वाले समझते रहें कि खलिश क्या होती है।

## हिंदुस्तान या प्रतिबंधस्थान?

■ भाषा सिंह

विचार, कला, लेखन, फिल्म, धर्म, यात्रा, आहार-सब पर पाबंदी यानी पूरा देश ही बन गया पवित्र गौ। यह मत करो, वह मत देखो, यह मत खाओ, वह मत पढ़ो, यह मत पहनो, यहाँ-वहाँ मत जाओ, इस तरह की बंदिशें पूरे समाज पर कसी जा रही हैं। महाराष्ट्र की भाजपा सरकार द्वारा गाय को मारने पर प्रतिबंध लगाए जाने और फिल्म इंडियाज डॉटर पर लगी रोक ने देश भर में खलबली पैदा कर दी।

भारत में भारत की बेटियों (इंडियाज डाटर्स) पर बनी फिल्म देखना चाहे तो नहीं देख सकते, इस पर प्रतिबंध है। महाराष्ट्र में कोई गौ-माँस से बनी कोई डिश खाना चाहे, वह नहीं खा सकता, उसे बेचना चाहे नहीं बेच सकता-इस पर प्रतिबंध है। केरल या गुजरात में शराब का सेवन करना चाहे नहीं कर सकते, इस पर प्रतिबंध है। वेंडी डोनिगर की किताब द हिंदूज : एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री की किताब पढ़ना चाहते हैं, लेकिन नहीं पढ़ सकते, इस पर रोक ही नहीं लगी, इसे रद्दी में तब्दील कर दिया गया। फिल्म फिफ्टी शेड्स ऑफ ग्रे देखना चाहते हैं, लेकिन अफसोस नहीं देख सकते, यह प्रतिबंधित है। अहमदाबाद में फना फिल्म देखना संभव नहीं, यह प्रतिबंधित है। विदेश जाकर लोगों-आदिवासियों के बारे में बात करना चाहते हैं, मुश्किल है। आपको राष्ट्र हितों के खिलाफ बताकर रोका जा सकता है। विदेश से आकर आप भारत में आंदोलनों का जायजा लेना चाहते हैं, आपको हवाई अड्डे से बाहर नहीं आने दिया जाएगा, वापसी फ्लाइट से भेज दिया जाएगा।

प्रतिबंध-प्रतिबंध और प्रतिबंध। हिंदुस्तान नहीं प्रतिबंधस्थान में तब्दील हो रहा है देश। हर तरह रोक लगाने की तैयारी चल रही है। कई प्रतिबंध कानून से लगाए जा रहे हैं और कई सामाजिक दबाव तथा तनाव के जरिए डाले जा रहे हैं। अंतरजातीय शादियों और अंतरधार्मिक शादियों पर पहले से कुफ्र बरपा है। हिंदुत्ववादी ताकतें ऐसी शादियों पर हिंसक हमला करने के लिए तैयार बैठी रहती है। ऐसी शादियों पर जातियों के बीच हिंसक टकराव की घटनाएं देश भर में फैली हुई हैं। अंतर-धार्मिक शादियों के खिलाफ अघोषित प्रतिबंध लगाने की घोषणा करने वाले अनगिनत हिंदुत्ववादी संगठन घूम रहे हैं। खाप पंचायतों का इन रिश्तों पर खौफ तारी है। वे बेलगाम होकर प्रेमी युगलों को निशाना बना रही हैं। इनकी हत्याएं हो रही हैं और इन हत्याओं के पक्ष में बयान दिए जा रहे हैं।

वरिष्ठ इतिहासकार डी.एन. झा के शब्दों में कहा जाए तो देश एक अंधकारमय दौर से गुजर रहा है। इस दौर में आम जनता के रोज-मर्रा के जीवन के हर पहलू में सरकार का दखल बढ़ता जा रहा है। सरकार यह तय कर रही है कि हम क्या खाएं, क्या पहने, क्या पढ़ें, क्या देखें। निर्भया बलात्कार कांड पर बनी लेसली उडविन की फिल्म को प्रतिबंधित करके जहां पितृसत्ता के खिलाफ उठी आवाज को दबाने की कोशिश की गई, वहीं गाय को मारने पर देश में राजनीति

फिर गरम हो रही है। भारत दुनिया में ब्राजील के बाद दूसरे नंबर का गौ-माँस का निर्यातक है। फिर भी तमाम राज्यों में इस पर प्रतिबंध लगाने की कवायद तेज हो रही है। महाराष्ट्र में गाय-बैल-सांड को मारने को अपराध बना दिया गया है। इनके माँस को बेचना और रखना सब अपराध बना दिया गया है। इसके लिए पांच साल तक की सजा और 10 हजार रुपये तक का जुर्माना करने का प्रावधान है। हरियाणा में भाजपा ने तो अपने चुनावी घोषणापत्र में ही गाय को मारने को धारा 302 यानी इंसान की हत्या के बराबर करने का अपराध घोषित करने का वादा किया था। अब हरियाणा की भाजपा सरकार इसी वादे को पूरा करने के लिए अपने बजट सत्र में कानून लाने जा रही है। महाराष्ट्र सरकार के बाद अब झारखंड में भाजपा सरकार भी गाय को मारने पर रोक लगाने की तैयारी कर रही है। जबकि झारखंड में आदिवासी समुदायों की संस्कृति का हिस्सा है गाय को खाना। यानी अब तमाम राज्यों में गाय को मारने पर कड़े से कड़ा कानून बनाने की होड़ लग गई है। उधर, पश्चिम बंगाल में भी भाजपा ने गाय को मारने और उसके माँस को बांग्लादेश भेजे जाने को एक बड़ा मुद्दा बनाना शुरू कर दिया है। गौरतलब है कि पश्चिम बंगाल में गाय को मारने पर रोक नहीं है और गाय के माँस को खया जाता है।

महाराष्ट्र में आई भारतीय जनता पार्टी की सरकार के इस फैसले से करीब दो करोड़ लोगों का रोजगार प्रभावित होगा। महाराष्ट्र सरकार के इस कदम का देश भर में कड़ा विरोध हो रहा है। महाराष्ट्र में मुस्लिम संगठनों के अलावा दलित संगठनों ने सरकार के इस फैसले की कड़ी आलोचना की। विरोध प्रदर्शन शुरू हो गए हैं। महाराष्ट्र सरकार ने महाराष्ट्र उच्च न्यायालय में सामाजिक कार्यकर्ता कीतन तिरोदकर ने जनहित याचिका दाखिल करके राज्य सरकार द्वारा गौ-माँस पर लगाई रोक को गलत बताया है। उन्होंने कहा कि गौ-माँस को खाना और बेचना अपराध नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इससे खाने के अधिकार का हनन होता है। कीतन ने अपनी याचिका में कहा कि गौ-माँस खाना किसी भी व्यक्ति का निजी मामला है, इसे आपराधिक त्व बनाना खतरनाक है और गैर-कानूनी है। मुंबई के बीफ डीलर्स वेलफेयर एसोसिएशन के उपाध्यक्ष इंतजार कुरैशी का कहना है कि इस प्रतिबंध से करोड़ों लोगों की जिंदगी पर संकट आ गया है। मुंबई के मीट कारोबारी अकरम कुरैशी का कहना है कि जब गाय की हत्या पर पहले ही रोक लगी है तब बैल के माँस पर रोक लगाने का कोई तुक नहीं है। मुंबई में बीफ खरीदारों में अच्छी खासी तादाद हिंदुओं की होती है ऐसे में इस मुद्दे को बेवजह धार्मिक और राजनैतिक रंग दिया जा रहा है। महाराष्ट्र में लगे प्रतिबंध के खिलाफ देश भर से आवाजें उठ रही हैं। केरल में बीफ फेस्टिवल आयोजित किया गया, जिसमें बड़े पैमाने पर हिंदुओं और मुस्लिमों ने गौ माँस से बने व्यंजन

खाए। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सांसद एम.बी. राजेश ने बताया कि गौ माँस खाने वालों की संख्या भी बहुत है और उनके अधिकारों का भी सम्मान होना चाहिए। केरल में मुस्लिम लीग से जुड़े सी.के. सुबैर ने आउटलुक को बताया कि सिर्फ केरल ही नहीं देश के कई राज्यों में गाय का माँस खाया जाता है। इस तरह से उसे अपराध बनाना देश में खाने-पीने की विविधता को नकारना है। यह सांप्रदायिक फासीवाद है, जो एक तरह की सोच, एक तरह का खान-पान सारे देश पर लादना चाहता है।

इस मसले पर आउटलुक ने जब पंजाब के लुधियाना शहर में रहने वाले 48 वर्षीय सुभाष देसावर से बात की तो उन्होंने बताया कि महाराष्ट्र और हरियाणा में जिस तरह से गाय को खाने पर रोक लगाई जा रही है, वह सही नहीं है। यह निजी पसंद-नापसंद का मामला है। खाने में भी सरकारें धर्म को डाल रही हैं। सुभाष ने बताया कि वह गौ-माँस खा चुके हैं। पंजाब और हरियाणा में इस पर रोक लगने की वजह से उन्हें दिल्ली में आकर अपने दोस्तों के साथ इसे खाया। सुभाष का कहना है कि गौ-माँस खाने या न खाने से कैसे कोई हिंदू हो सकता है। देश में बड़ी संख्या में लोग जिसमें दलित भी शामिल हैं, गौ-माँस खाते हैं और उन्हें यह खाने की आजादी होनी चाहिए।

हरियाणा के पानीपत में रहने वाले राजकुमार ने दो टूक शब्दों में कहा कि उन्हें गौ-माँस खाना पसंद है और इसकी दो वजहें हैं। पहली तो यह कि यह सस्ता होता है और दूसरा स्वादिष्ट भी। उन्होंने बताया कि हरियाणा की दलित और मुस्लिम बस्तियों में यह खूब खाया जाता है। प्रतिबंध लगने की वजह से चोरी-छिपे इसका कारोबार चल रहा है, जिससे खाने वालों को बहुत मुश्किल होती है। राजकुमार ने बताया, इस मीट की एक प्लेट 20-25 रुपये में मिल जाती है और दस रुपये की रोटी लेकर हमारा पेट भर जाता है। इससे सस्ता और पौष्टिक खाना और क्या हो सकता है। राजकुमार ने बताया कि वाल्मिकी समुदाय शुरू से गौ-माँस खाता रहा है। उन्होंने बताया कि उनके दादा मरी हुई गाय को साफ करते थे। इसके बाद घर के लोग मिलकर उसके कुछ हिस्से को सुखाते थे और बाकी हिस्सा खाया जाता था। अब ऐसा नहीं रहा क्योंकि मरी गाय को गाड़ दिया जाता है। राजकुमार ने जो कहा वही बात इतिहासकार डी.एन. झा ने कही।

देश की गरीब जनता के लिए गाय का मीट सबसे सस्ता उच्च कोटि का प्रोटीन होता है। इसके साथ ही जिन राज्यों में यह प्रतिबंधित है, वहाँ भी गरीब आबादी इस पर आश्रित है।

तमिलनाडू की डॉ. दीप्ति ने आउटलुक को बताया कि गौ-माँस खाना एक सांस्कृतिक चुनाव है। दलितों की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। इसकी वजह यह रही है कि दलितों की बहुत सी जातियाँ मरे हुए जानवरों को साफ करने का काम करती रही हैं। तमिलनाडू में दलित जातियों में अरुंधतियार, मादिगा, चकलियारस में गौ-माँस खाया जाता है। एक बार तमिलनाडू में इसे प्रतिबंधित करने की कोशिश हुई लेकिन राज्य में कड़े विरोध के बाद इसे वापस लेना पड़ा था। हालांकि यहाँ भी खुलकर लोग यह बताना पसंद नहीं करते कि वह गौ-माँस खाते हैं क्योंकि ब्राह्मणवाद का असर यहाँ पर भी है। दीप्ति का मानना है कि महाराष्ट्र में जिस तरह से यह प्रतिबंध लगाया

गया है वह हिंदुत्ववादी संस्कृति को फैलाने की साजिश का हिस्सा है। दीप्ति का कहना है कि एक तरफ सरकार इंडियाज डॉटर फिल्म को प्रतिबंधित कर रही है, वहीं दूसरी तरफ लोगों के खानपान पर रोक लगा रही है। सरकार खाने की मेज पर बैठ गई है और खाने पर नकेल कस रही है। दीप्ति सीधा सा सवाल पूछती हैं, गाय किसके लिए पवित्र है, मेरे लिए तो नहीं है। देश में मुसलमानों के लिए सुअर का माँस हाराम है तो क्या उसे प्रतिबंधित किया जाता है, नहीं न। उसी तरह का रवैया गौ-माँस के लिए रहना चाहिए।

गाय प्रजाति को मारने पर लगी रोक से देशभर के करोड़ों लोगों के जनजीवन पर सीधा असर पड़ रहा है। मामला सिर्फ खान-पान तक ही सीमित नहीं है, इसका सीधा रिश्ता अर्थव्यवस्था से भी है। इस सवाल का जवाब प्रतिबंध लगाने वाली किसी भी सरकार के पास नहीं है कि बूढ़ी, बीमार गायों-बैलों का क्या होगा। पहले से गहरा संकट झेल रहे किसान किस तरह इस बोझ से ऊबर पाएँगे। वहीं, दूसरी तरफ कृषि विशेषज्ञ देविंदर शर्मा ने महाराष्ट्र में गौ माँस पर लगे प्रतिबंध को जायज ठहराया और कहा कि अर्थव्यवस्था की आड़ में गौ हत्या का बचाव उचित नहीं है। वह मानते हैं कि अगर प्रयास किए जाएं तो गोबर और गौमूत्र के इस्तेमाल से नुकसान की भरपाई हो सकती है।

प्रतिबंध की तलवार सिर्फ खान-पान तक ही सीमित नहीं है। लोग क्या देखें, लोग क्या पढ़ें, क्या सुनें, क्या बनाएँ, सब पर नैतिक पुलिस का पहरा बढ़ता जा रहा है। 2012 में हुए निर्भया बलात्कार कांड पर बीबीसी के लिए लेसली उडविन द्वारा बनाई गई फिल्म इंडियाज डॉटर पर जिस तरह से भारत सरकार ने आनन फानन में रोक लगाई, उसकी देश-विदेश में तीखी आलोचना हुई। सरकार का तर्क है कि इस फिल्म से भारत की छवि खराब हो रही है। लेसली उडविन की इस फिल्म को लेकर देश भर में खूब हंगामा रहा। निर्भया बलात्कार कांड की पीड़िता के पिता का कहना है कि इस फिल्म को हर किसी को देखना चाहिए। यह भारत की बेटियों के पक्ष में फिल्म है, देश के खिलाफ नहीं। आप यह सोचिए कि व्यक्ति जेल में ऐसी बातें कह रहा है, वह बाहर कितना जालिम होगा। ऐसे लोगों का पर्दाफाश होना चाहिए। माकपा की सांसद वृंदा कारात ने कहा कि मैंने यह डॉक्यूमेंटरी फिल्म देखी है। यह एक सशक्त फिल्म है। यह चौथी बार है जब सरकार ने बिना देखे ही किसी फिल्म को प्रतिबंधित किया है। वरिष्ठ अधिवक्ता वृंदा ग्रोवर का कहना है कि औरतों की जिंदगी में जरूरत से ज्यादा दखल बढ़ रहा है। एडवा की नेता सुभाषिनी अली का कहना है कि महिलाओं की बढ़ी हुई पहलकदमी को रोकने के लिए हिंदुत्ववादी और कट्टरपंथी ताकतें पूरी तरह से सक्रिय हैं। वे बहुसंख्यवाद को ही राष्ट्रीय संस्कृति का पर्याय बनाना चाहती हैं। औरतों को कितने बच्चे पैदा करने चाहिए से लेकर देशवासियों को क्या खाना चाहिए और क्या नहीं, वे सब बता रही हैं। गौ-माँस पर प्रतिबंध के जरिए पूरी वेशर्मा से धार्मिक ध्रुवीकरण किया जा रहा है। इसे हिंदू बनाम मुस्लिम मुद्दा बनाने की साजिश हो रही है।

शेष पृष्ठ 9 पर

# ‘हम’ और ‘वे’ की राजनीति

■ सुभाष गाताडे

आजाद भारत के कर्णधारों ने भले ही हम दो हमारे दो की सलाह दी हो, मगर 21 वीं सदी की दूसरी दहाई में इसे लेकर नयी रार मचती दिख रही है। इनमें सबसे ताजातरीन नाम नवगठित आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू का जुड़ा है, जिन्होंने अपने प्रदेश के विकास के लिए युवा जोड़ों को अधिक सन्तान पैदा करने की सलाह दी है। बहरहाल इस बहस का फोकस बहुसंख्यक समुदाय पर अधिक केन्द्रित है। हिंदुओं को कितने बच्चे पैदा करने चाहिए इसे लेकर आए दिन नए प्रस्ताव सामने आते दिखते हैं। अगर सांसद साक्षी महाराज ने चार बच्चे पैदा करने की हिमायत की थी, किन्हीं साध्वी प्राची ने पाँच बच्चे पैदा करने का आग्रह रखा था तो इलाहाबाद के माघ मेले में बद्रीकाश्रम के शंकराचार्य श्री वासुदेवानन्द सरस्वती ने 10 बच्चे पैदा करने पर जोर डाला है। फिलवक्त इस बात की भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती कि यह सिलसिला कहाँ रुकेगा? मगर इसे लेकर चन्द बातें जरूर कही जा सकती हैं।

सबसे अहम कि ऐसे प्रस्ताव स्त्रियों को ‘बच्चा पैदा करने की मशीन’ से इतर कुछ नहीं समझते और समूचे समाज में आए इस बदलाव से बेखबर हैं कि अधिक बच्चों वाले परिवार अब इतिहास बन चुके हैं। आज की तारीख में स्त्री दफ्तर, कारोबार सम्भालने से लेकर सत्ता की बागडोर सम्भालने तक आगे पहुँची है और ऐसा कोई भी प्रस्ताव उसे फिर एक बार दायम दर्जे की स्थिति में पहुँचा देगा। दूसरे कि ऐसे दावों में कोई मौलिकता नहीं है। अगर हम अपने हालिया अतीत पर निगाह डालें या सौ साल पहले के भारत को देखें तो इसी किस्म की चिन्ताओं से रूबरू होते हैं। उदाहरण के तौर पर विश्व हिंदू परिषद के अध्यक्ष अशोक सिंघल ने दस साल पहले हिंदुओं को परिवार नियोजन त्यागने की सलाह दी थी ताकि उनकी आबादी कम न हो। उनका मानना था कि मुसलमानों की आबादी इस कदर तेजी से बढ़ रही है कि आने वाले पचास सालों में वह कुल आबादी का 25-30 फीसदी होगी।

बहुत कम लोगों को याद होगा कि बीसवीं सदी की शुरुआत में किन्हीं जनाब यू एन मुखर्जी द्वारा लिखित एक किताब आयी थी : हिंदू : ए डाईंग रेस। यह वहीं मुखर्जी थे जिन्होंने बाद में पंजाब हिंदू महासभा का गठन भी किया। यह किताब इस मामले में क्लासिक कही जा सकती है कि उसने बाद की तमाम किताबों को प्रभावित किया, जिनकी रचना हिंदू महासभा ने की थी। मोहन राव हिमाल पत्रिका के अपने आलेख में बताते हैं कि, ‘इस किताब ने हिंदू साम्प्रदायिकता को निर्मित करने में एवं मजबूती देने में अहम भूमिका निभायी। इस किताब का उच्च जाति के हिंदू सम्प्रदायवादियों पर विशेष प्रभाव था जो मुसलमानों एवं दलितों से उठ रही अलग

प्रतिनिधित्व की मांग के बरअक्स एक मोनोलिथिक हिंदू समुदाय को गढ़ना चाह रहे थे। मुसलमानों को लेकर अनाप शनाप बातों को उछालने से विविध जातियों में बँटे हिंदुओं को - जिनमें से कइयों के आपस में दुश्मनाना सम्बन्ध थे - एक मंच पर लाना आसान था।’

गौरतलब यह भी है कि जनसंख्या विमर्श का ऐसा रूप अन्य आस्थावानों में भी उजागर होता रहता है। अगर हम यहूदी, ईसाई, इस्लामिक या सिंहली मूलवादी या बुनियादपरस्त जनसंख्या विमर्शों को देखें तो उनमें भी हिंदुत्व के जनसंख्या विमर्श के तत्व मिल सकते हैं। इस्लामिक बुनियादपरस्त ताकतें भी परिवार नियोजन का विरोध करती हैं, जिनका यह कहना होता है कि मुस्लिम दुनिया को कुंद करने की यह यहूदियों-ईसाईयों की चाल है। मिस्र का मुस्लिम ब्रदरहुड जैसा संगठन गर्भनिरोधक को विरोध करता है क्योंकि उसका मानना है कि इससे अनियंत्रित स्त्री यौनिकता को बढ़ावा मिलेगा, जो इस्लामिक समाज के नैतिक ताने-बाने को कमजोर कर देगा।

भारत के सन्दर्भ में बहुसंख्यकों को अधिक बच्चे पैदा करने चाहिए यह सोच एक तरह से इसी बात पर टिकी होती है कि अन्य समुदाय यहाँ छा जाएंगे। मुसलमानों के बारे में यह आरोप लगाया जाता है कि वे गर्भनिरोधक साधनों का इस्तेमाल न कर अधिक बच्चे पैदा करते जाते हैं; दूसरे, मुस्लिम युवकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह लव जिहाद चला कर हिंदू लड़कियों, महिलाओं को प्यार के जाल में फँसाते हैं और उनका धर्मांतरण करते हैं और तीसरे, सीमा पार के जरिए हो रहे जनसंख्यात्मक आक्रमण। इस तरह बगल के मुल्क बाँगलादेश से यहाँ पहुँचने वाला गैरकानूनी प्रवासी को घुसपैठिया करार दिया जाता है। यह अलग बात है कि तथ्य इन दावों को खारिज करते हैं-वर्ष 2001 की जनगणना के वक्त भारत की कुल 1.028 बिलियन आबादी में हिंदुओं की तादाद 827 मिलियन थी (80.5 फीसदी) जबकि मुसलमानों की संख्या 138 मिलियन थी (13.4 फीसदी) 1951 के बाद के जनगणना आँकड़े, बताते हैं कि हर दशक में मुसलमानों की तादाद एक फीसदी से बढ़ रही है। विशेषज्ञों के मुताबिक, भारत को मुस्लिम बहुल मुल्क बनने में इस रफ्तार से तीन सौ साल लगेंगे।’ अगर हम 1990 के बाद के दशकों में जनसंख्या में बढ़ोत्तरी दर में आ रही घटोत्तरी को देखें तो यह पाते हैं कि हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों में यह घटोत्तरी अधिक है। नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे के अनुसार हिंदुओं के लिए सकल प्रजनन क्षमता 1993-94 से 1988-99 के दरमियान 3.2 से 2.78 तक हुई जबकि मुसलमानों में यह 4.41 से 3.59 तक हुई अर्थात् हिंदुओं में अगर यह फर्क 0.52 था तो मुसलमानों में यही दर 0.82 था।



अपने एक आलेख में जनसँख्या विशेषज्ञ मोहन राव कहते हैं- 'अन्य तमाम बातों के अलावा इसके जरिए यही कहा जा रहा है कि सिविल कानून के तहत जबकि हिंदू एक से अधिक शादी नहीं कर सकते हैं जबकि मुस्लिम चार शादी कर सकते हैं। आँकड़े यही बताते हैं कि गैरकानूनी दो शादियां या कई शादियों का प्रचलन मुसलमानों की तुलना में हिंदुओं में ज्यादा है। बहुपत्नीक शादी का प्रतिशत हिंदुओं में 5.8 है जबकि मुसलमानों में 5.73 है। हिंदुओं की तरह मुसलमान भी मोनोलिथ, समरूप समुदाय नहीं हैं। केरल और तमिलनाडु के मुसलमान या यूँ कहें कि दक्षिण भारत के

मुसलमानों के परिवारों की सदस्य संख्या उत्तर भारत के बिहार एवं उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों के हिंदू परिवारों के सदस्य संख्या की तुलना में कम पायी जाती है। सीमित जानकारी एवं अन्तरसामुदायिक अन्तर्क्रिया के कम होते अवसर के चलते जो धारणाएँ बनती हैं, उन्हें वास्तविक तथ्यों के जरिए प्रश्नांकित किया जा सकता है। प्रश्न उठना लाजिमी है कि जनसंख्या को लेकर मचायी गयी इस भ्रांति का क्या आधार है। वह 'हम' और 'वे' की लामबन्दी का राजनीतिक मकसद हल करती है। भविष्य के बारे में डर और चिन्ता गढ़ कर, बहुसंख्यकवादी जनसंख्या विमर्श को अंजाम देता है।

## हिंदुस्तान या प्रतिबंधस्थान?

पृष्ठ 7 का शेष भाग

औरत से हुए बलात्कार और उस मानसिकता पर फिल्म बनाना राष्ट्रीय गरिमा के खिलाफ, लड़कियां जींस पहने तो यह संस्कृति के खिलाफ, लड़कियां मोबाइल लें तो यह खतरनाक, पसंद से शादी करें तो अपराध। यह मध्ययुगीन दौर की खतरनाक वापसी है।

रोक की संस्कृति और रोक की राजनीति का बोलबाला हर तरफ है। आज के दौर में सरकार की नीतियों-परियोजनाओं के खिलाफ बोलना भी राष्ट्र हित के खिलाफ परिभाषित किया जाने लगा है। स्वयंसेवी संस्था ग्रीनपीस की कार्यकर्ता प्रिया पिल्लै को लंदन जाने से रोका जाना, ऐसी ही प्रतिबंधकारी राजनीति का एक कदम था। दिल्ली उच्च न्यायालय ने सरकार के इस कदम के खिलाफ फैसला देते हुए कहा कि प्रिया पिल्लै का यात्रा करने का अधिकार मौलिक अधिकार है और इसे छीना नहीं जा सकता। प्रिया पिल्लै की वकील इंदिरा जयसिंह का कहा कि कितनी हैरानी की बात है कि देश का कोई कानून किसी भी नागरिक को अपने विचार रखने से नहीं रोकता। अभिव्यक्ति की आजादी संविधान की धारा 19 (2) के तहत ही की जा सकती है। प्रिया के मामले में ऐसा कुछ भी नहीं था। दरअसल सरकार ने यह तर्क गढ़ा कि प्रिया पिल्लै एस्सार द्वारा चलाई जा रही महान परियोजना का विरोध करने जा रही हैं और इससे भारत में विदेशी निवेश प्रभावित होगा। सरकार ने प्रिया पिल्लै का लंदन जाना राष्ट्रीय हित के खिलाफ बताया था, जो किसी भी सूरत में न्यायसंगत नहीं था।

एक तरफ भारत के लोगों को विदेश जाने से रोका जा रहा है वही विदेशियों को भारत आने से रोका जा रहा है। ब्रिटेन की पैनी वेरा सांसो को 2014 में हैदराबाद में हवाई अड्डे पर रोक लिया गया और अगली फ्लाइट से ही वापस भेज दिया गया। वजह वह भारत के वृद्धजनों पर काम कर रही थीं और उनकी तस्वीरों की प्रदर्शनियाँ लगा रही थीं। इन प्रदर्शनियों में वृद्धों के कठिन जीवन और उनके जीवट की कहानी बयां होती थी। यह प्रदर्शनी केंद्र सरकार को राष्ट्र के खिलाफ लगी। ऐसे ही कुडनकुलन में परमाणु संयंत्र विरोधी आंदोलन के दौरान कई विदेशियों को वापस भेजा गया था। एक स्वीडिश नागरिक को केरल में एक चरम वामपंथी जनसभा में शिरकत

करने के लिए गिरफ्तार कर लिया गया, जिसे बाद में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन बताते हुए अदालत ने रिहा किया।

असहमति की तमाम आवाजों को दबाने का भी एक लंबा सिलसिला रहा है, जो अब ज्यादा आक्रामक हो गया है। यह अकारण नहीं है कि केंद्र सरकार ने 69 स्वयंसेवी संस्थाओं पर विदेशी धन लेने पर रोक लगा दी है। इनमें से 30 अल्पसंख्यकों के सवालियों पर सक्रिय हैं। इन संस्थाओं पर आरोप है कि विकास विरोधी आंदोलनों को समर्थन देकर वे देश की सकल घरेलू उत्पाद में 2 से 3 फीसदी का नुकसान कर रहे हैं।

नौकरशाही पर तो लगाम कसी ही जा रही है। लेखकों पर हमले तेज हुए हैं। तमिल लेखक पुलियूर मुरुगेशन को उनके एक उपन्यास बालाचंद्रन इनरा पेयारम इनाकुंदु के लिए मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा। इससे पहले तमिलनाडू के एक लेखक पेरुमाल मुरुगन को ऐसे ही दबाव के चलते अपने लेखक की मौत की घोषणा करनी पड़ी थी। कांग्रेस के शासनकाल में जेवियर मोरो की किताब लाल साड़ी प्रतिबंधित रही। प्रतिबंध झेलने वाले लेखकों की फेहरिस्त लंबी है। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद ने ए.के. रामानुजम के श्री हंड्रेड रामायणाज पर भी उतना ही उपद्रव किया था जितना रोहिंटन मिस्त्री की किताब पर शिव सेना ने। मुस्लिम कट्टरपंथियों के निशाने पर तस्लीमा नसरीन से लेकर सलमान रुश्दी रहे। आलम यह है कि जयपुर साहित्य महोत्सव में वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के जरिए सलमान रुश्दी के वक्तव्य को कट्टर मुस्लिम संगठनों ने आपत्ति कर रुकवा दिया था। हमारे समय के सबसे बड़े चित्रकारों में से एक एम.एफ. हुसैन को उग्र हिंदुत्ववादी ताकतों ने देश में ही प्रतिबंधित कर दिया और बहादुरशाह ज़फर की तरह उन्हें भी भारत में दो गज जमीन भी न मिली।

अंतर बस यह आया है कि ये प्रतिबंध अब ज्यादा उग्र हो गए हैं और उन्हें गाहे-बगाहे राजनीतिक सरकारी वरदहस्त प्राप्त है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नारा तो दिया मेक इन इंडिया लेकिन जमीन पर वह दिखाई दे रहा है बैन्ड इन इंडिया (प्रतिबंध का भारत)।

साभार <http://www.outlookhindi.com>

## तुमचा दाभोलकर करू

■ आई.एस.डी.

16 फरवरी, 2015 को महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले में वरिष्ठ वामपंथी गोविंद पानसारे और उनकी पत्नी को अज्ञात हमलावरों ने गोली मार दी। 82 वर्षीय पानसारे और उनकी पत्नी सुबह की सैर पर निकले थे जब बाइक सवार युवकों ने उन पर हमला किया। 20 फरवरी को मुंबई के ब्रीच कैंडी अस्पताल में उनकी मौत हो गयी। ऐसे ही 2013 में पुणे में सुबह की सैर से लौटते वक्त नरेंद्र दाभोलकर की बाइक सवार हत्यारों ने गोली मार कर हत्या कर दी थी।

दाभोलकर की मौत के बाद पानसारे को भी धमकी भरे पत्र मिले जिनमें लिखा था-‘तुमचा दाभोलकर करू’ यानि तुम्हारा भी दाभोलकर

वाला हश्र करेंगे। आखिर नरेंद्र दाभोलकर या गोविंद पानसारे से किसे खतरा था? पेशे से चिकित्सक दाभोलकर जीवनपर्यंत एक तर्कशील समाज की स्थापना के लिए लड़ते रहे। अपने संगठन की गतिविधियाँ, अपनी लेखनी के माध्यम से उन्होंने समाज में फैली तमाम अवैज्ञानिक रिवाजों/विश्वासों और अंधविश्वास पर लगातार हमला बोला। उनके निशाने पर थे तथाकथित धर्मगुरु, ढोंगी बाबा और इनका मकड़जाल। उन्होंने इन बाबाओं/धर्मगुरुओं को खुलेआम चुनौती दी। लोगों के भीतर पल रही भविष्य के प्रति असुरक्षा, भय तथा अन्य भावनाओं का दोहन कर धंधा चमकाने वालों को व्यापक समाज की आत्मविश्वास से भरी तर्कशील सोच भला कैसे रास आ सकती थी? नतीजा था- दाभोलकर की हत्या। ऐसे ही श्री पानसारे लगातार दक्षिणपंथी ताकतों द्वारा फैलाए जा रहे भ्रामक व मिथ्या प्रचार पर हमले कर रहे थे। वे अपनी जनपक्षधरता और अपनी किताब ‘शिवाजी कौन थे’ के लिए जाने जाते थे। मूलतः मराठी में लिखी गयी यह किताब 1987 में दिए गए उनके एक भाषण का किताबी संस्करण



थी। विभिन्न भाषाओं में अनूदित इस किताब की एक लाख से अधिक प्रतियां बिकीं। अपनी इस किताब में उन्होंने हिंदू दक्षिणपंथियों द्वारा विकृत की गयी शिवाजी की छवि को इतिहास के तथ्यों की कसौटी पर परखा। लंबे समय से उन्हें हिंदू हृदय सम्राट की संज्ञा देने वाले महाराष्ट्र के कट्टरपंथी ताकतों ने सफलतापूर्वक उनकी एक मुस्लिम विरोधी छवि बना रखी थी। वे उनके आदमकद पोस्टर बनाते थे जिसमें शिवाजी अफज़ल खान (बीजापुर के आदिलशाही वंश का सेनापति) को चाकू मारते हुए दिखाए गए थे। यह बड़ी प्रतीकात्मक छवि थी जो उनके मुस्लिम विरोधी छवि को बल देती

थी। अपनी किताब ‘शिवाजी कौन होता’ में उन्होंने इस छवि को ध्वंस किया। उन्होंने कहा कि शिवाजी की लोकप्रियता की वजह महज हिंदू राजा होना नहीं था बल्कि इसकी वजह थी आम जन के कल्याण के प्रति उनकी प्रतिबद्धता। वह न्याय के लिए लड़े, महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान सुनिश्चित किया, किसानों के हित में नीतियाँ बनाई, प्रमुख पदों पर दलितों और पिछड़ी जातियों के योग्य लोगों को नियुक्त किया और स्वराज के अपने सपने को पूरा करने के लिए हर जाति और संप्रदाय के लड़ाकों को अपनी सेना में शामिल किया। उन्होंने तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि शिवाजी एक धर्मनिरपेक्ष राजा थे जिन्होंने राजनैतिक कारणों से मुसलमान राजाओं से लड़ाइयाँ लड़ीं न कि धार्मिक कारणों से।

गोविंद पानसारे के अनुसार महाराष्ट्र में उच्च जातीय संगठन दलित समुदायों पर हमले के दौरान ‘जय भवानी जय शिवाजी’ का नारा इस्तेमाल करते थे। वहाँ शिवसेना, संभाजी ब्रिगेड सरीखी राजनीतिक पार्टियों व संगठनों ने अपने मुस्लिम विरोधी एजेंडा की स्वीकार्यता के लिए शिवाजी का इस्तेमाल

किया। इन अतिवादी मराठा संगठनों को पानसारे की स्थापनाओं से आघात पहुँचा।

अहमदनगर जिले के कोठार गांव में पैदा हुए गोविंद पानसारे के जन्म के समय परिवार की माली हालत अच्छी नहीं थी। परिवार की खेती की ज़मीन साहूकारों के हाथों जा चुकी थी। मां खेतों में काम करती थी जबकि पिता छोटे-मोटे काम करते थे। उनके मां-बाप खासकर उनकी मां की विशेष इच्छा थी उन्हें पढ़ाने-लिखाने की सो उनका नाम स्कूल में लिखवा दिया गया। बचपन से ही वे समाजवादी सेवा दल के संपर्क में थे और वहाँ काफी सक्रिय भी थे। वामपंथी विचारों से भी उनका संपर्क स्कूली दिनों में ही हुआ। अपने कॉलेज की शिक्षा के लिए वे कोल्हापुर आए जहाँ अपनी पढ़ाई का खर्च निकालने के लिए उन्होंने बड़ी मेहनत की। उन्होंने अखबार बेचा, नगरपालिका के चुंगी विभाग में चपरासी की नौकरी की, प्राथमिक अध्यापक का काम किया और इन सब के दौरान अपनी कानून की पढ़ाई भी पूरी की। एक वकील की हैसियत से उनके पास अमीर होने के तमाम मौके थे पर वे कभी भी अपनी गुर्बत के दिनों या गरीबों को नहीं भूले। अपनी वकालत के साथ-साथ वे ट्रेड यूनियन के कामों और अन्य सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय रहे। एक बहुआयामी शख्सियत के मालिक गोविंद पानसारे के लिए धर्मनिरपेक्षता और गरीबों के लिए संघर्ष करना ही उनकी जीवन शक्ति थी। छात्र जीवन में गोवा के स्वतंत्रता आंदोलन में भी उन्होंने भाग लिया। बाद में एक दशक तक वे शिवाजी विश्वविद्यालय में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर रहे। मजदूर आंदोलनों में सक्रिय रहे पानसारे फेरी वालों के, मैकेनिकल और इंजीनियरिंग मजदूरों/कर्मचारियों, खेतिहर मजदूरों, झोंपड़पट्टी वासियों के तमाम संगठनों में अगली कतार में शामिल रहे। भ्रष्टाचार, जाति, सांप्रदायिकता, अंधविश्वास, महिलाओं, कामगारों और मानवाधिकारों के मुद्दे पर सक्रिय पानसारे ने अंतर्राष्ट्रीय और अंतर्धार्मिक शादियों के प्रति समाज का लगभग दुश्मनाना रवैया देखते हुए ऐसी शादी की चाह रखने वालों के लिए एक केंद्र की स्थापना भी की थी। नरेंद्र दाभोलकर की हत्या के बाद महाराष्ट्र की भाकपा इकाईयों के साथ उन्होंने अंधविश्वास के खिलाफ लड़ाई को प्रमुखता दी। वे सीपीआई के राज्य सचिव और साथ ही पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति के भी सदस्य थे। अपना पूरा जीवन वाम राजनीति में लगाने वाले गोविंद पानसारे ने पार्टी की कमियों पर भी हमेशा अपनी उंगली रखी।

वे आदर्शवादी थे पर जड़ता से दूर, उनके भीतर धार के

विपरीत खड़े होने का साहस और सूझ थी। 1987 में मेनन एंड मेनन नाम की कंपनी को लिक्विडेट होने से बचाने के लिए उन्होंने कंपनी के 1000 मजदूरों को 20 प्रतिशत कम मजदूरी पर काम करने के लिए राजी किया। यह सब एक ऐसे समय में जब कपड़ा मिलों के मशहूर ट्रेड यूनियन नेताओं ने किसी भी समझौते से इंकार कर दिया था और बदले में वे कपड़ा मिलों को बंद करने का दबाव डाल रहे थे जिसका नतीजा था रातोंरात हज़ारों मजदूरों की बेरोज़गारी। पानसारे की दूरदर्शिता ने न सिर्फ कामगारों का काम बचाया बल्कि आज 3000 करोड़ रुपये मूल्य की इस कंपनी में 1500 मजदूर काम करते हैं। कोल्हापुर शहर में लोकप्रिय गोविंद पानसारे कभी कोई चुनाव नहीं जीत पाए क्योंकि उनके पास धनबल नहीं था। और इस क्षेत्र में हावी चीनी माफियाओं की मदद उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। महाराष्ट्र के एक बेहद ज्वलंत मुद्दे रोड टोल का सक्रिय विरोध उनका एक और कार्यक्षेत्र था। एक निजी कंपनी आई. आर. बी. इंफ्रास्ट्रक्चर डेवलपर्स (IRB infrastructure developers) के खिलाफ उन्होंने कोल्हापुर में लंबा संघर्ष किया। इसी कंपनी द्वारा लोनावला में किये जा रहे भूमि घोटाले का राज़फ़ाश करने की कीमत सामाजिक कार्यकर्ता सतीश शेटी को जान देकर चुकानी पड़ी। वे भी सुबह की सैर के वक्त पुणे में भाड़े के हत्यारों की गोलियों का शिकार हुए। पिछले 18 महीनों में महाराष्ट्र में डॉ. नरेंद्र दाभोलकर, सतीश शेटी और अब गोविंद पानसारे यह तीसरी हत्या है जिसमें सामाजिक कार्यकर्ताओं को गोलियों का शिकार बनाया गया। सड़कों का विकास करने वाली यह कंपनी कोल्हापुर शहर में तय चुंगी से लगभग दोगुनी राशि वसूलती थी। अपने ही शहर में घुसने के लिए रोज़ाना की ये चुंगी उनके लिए न सिर्फ अन्यायपूर्ण थी बल्कि एक अंतहीन भ्रष्टाचार का कारण भी जो आम लोगों की कीमत पर नेताओं का घर भरती है। यह मुद्दा सालों-साल तक अदालतों और राजनीतिक गलियारों में फँसा रहा। अब जाकर महाराष्ट्र सरकार ने तय दर से ज़्यादा चुंगी वसूलने के आरोप की जाँच के लिए एक समिति का गठन किया।

उनकी इस कोशिश का बेहतरीन पक्ष संभवतः यही है कि आज बहुत से लोग मानते हैं कि उनकी हत्या इसी वजह से हुई है। उनकी हत्या के बाद औरंगाबाद, सोलापुर, नासिक, मुंबई, कोल्हापुर जैसे शहरों में प्रदर्शन हुए। नरेंद्र दाभोलकर के बेटे की बात बिल्कुल सही है कि 'गोविंद पानसारे की हत्या के लिए वही शक्तियाँ जिम्मेदार हैं जिन्होंने नरेंद्र दाभोलकर की हत्या की।'

# कैसा जनतंत्र चाहते थे भारत के शहीद

■ सुधीर विद्यार्थी

देश की स्वतंत्रता के पश्चात हम निरंतर शहीदों की कल्पना के भारत के निर्माण की बात करते रहे लेकिन हमने कभी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि शहीदों के सपनों का जनतंत्र कैसा था, वह किन सिद्धांतों और आदर्शों पर आधारित था।

देश का मुक्ति संग्राम जो 1857 या उससे भी बहुत पहले शुरू हुआ था, वह थोड़े-बहुत उतार-चढ़ाव के साथ 1946 के नौसेना विद्रोह तक अनवरत रूप से चलता रहा। साम्राज्यवाद से हुए इस लंबे युद्ध में हजारों व्यक्ति शहीद हो गये। न जाने कितनी को फाँसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ा, कितने ही तोप के मुँह पर बाँध कर उड़ा दिये गये, कुछ पुलिस और सेना से हुए युद्ध में मारे गये और अनेक ने जेल की दीवारों के भीतर अनशन करके अपनी जानें दीं। यह संग्राम देश के भीतर ही चल रहा हो सो बात नहीं। क्रांतिकारी विदेशों में जाकर नये-नये तरीकों से ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और अपनी लड़ाई को नई धार देते रहे।

क्या थे उन शहीदों के आदर्श और उद्देश्य, कैसा था समाज निर्माण का उनका सपना जिक्रे लिए वे बड़े से बड़ा बलिदान देने में भी हिचकिचाये नहीं और मौत को सामने देखकर भी 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का उद्घोष करते रहे।

## धर्मनिरपेक्षता

1857 के विद्रोह को ब्रिटिश हुकूमत ने पूरी शक्ति के साथ कुचल दिया, लेकिन क्रांति की आग भारतवासियों के दिलो-दिमाग में धधकती रही। देश और देश के बाहर क्रांतिकारी प्रयास पूरी शक्ति के साथ चलते रहे। सन् 1915 में अमरीका में बसे भारतीय मजदूरों ने 'गदर पार्टी' की स्थापना की और 'गदर' अखबार का प्रकाशन शुरू किया। इस पार्टी की ऐतिहासिक भूमिका के बारे में यहाँ पर बता देना जरूरी होगा कि इसके कार्यकर्ताओं ने ही सर्वप्रथम जनवादी राजनीति की शुरुआत की थी। देखा जाये तो हमारी राजनीति का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप उसी समय तय हो गया था। स्वतंत्रता और समानता के आधार पर बनी पार्टी ने भारतीय राजनीति की भविष्य की दिशा तय कर दी।

## राष्ट्रीय एकता

इसके बाद राजा महेंद्र प्रताप के नेतृत्व में देश की

पहली निर्वासित अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई जिसके प्रथम राष्ट्रपति राजा जी बने और प्रथम प्रधानमंत्री मौलाना बरकतउल्ला। विदेश मंत्री बनाया गया केरल के क्रांतिकारी चेम्पक रामन पिल्लै को। राजा जी उत्तर भारत के तो मौलाना मध्य भारत भोपाल के और पिल्लै सुदूर दक्षिण के। यह बनी थी तब हमारी राष्ट्रीय एकता की अद्भुत मिसाल।

## साम्प्रदायिक सद्भाव

फिर जब 9 अगस्त 1925 को काकोरी (लखनऊ के निकट) में उत्तर भारत के दस क्रांतिकारी नौजवानों ने रेल का सरकारी खजाना लूटा तो उस मुकदमे में रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाकउल्ला ने एक साथ फाँसी चढ़कर स्वतंत्रता और साम्प्रदायिक सद्भाव की ज्योति जलाई। वे कैसा जनतंत्र चाहते थे, इसे जानने के लिए हमें अशफाकउल्ला खाँ के इन शब्दों पर गौर करना होगा :

*'मैं हिन्दुस्तान की ऐसी आजादी का ख्वाहिशमन्द था जिसमें गरीब खुश और आराम से रहते और सब बराबर होते।'*

अशफाकउल्ला ने बहुत स्पष्ट तौर पर स्वदेशी, साम्प्रदायिक सद्भाव, समाजवाद और जनजागरण की बात कही। उन्होंने भगत सिंह से बहुत पहले यह कहा था कि 'अगर हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ तो ऐ खुदा मुझे ऐसी आजादी उस वक्त तक न देना जब तक तेरी मख्जूक (दुनिया) में बराबरी कायम न हो जाये।'

क्रांतिकारियों का यह दल था 'हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र संघ' जिसने अपने शुरुआती दिनों में ही 'द रिवोल्यूशनरी' नामक पर्चा छापकर अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि वह एक ऐसे प्रजातन्त्र की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील है, जहाँ सभी प्रकार के शोषण का अंत होगा और मनुष्य सच्चे अर्थों में आज़ादी का उपभोग कर सकेगा।

क्रांतिकारी भगत सिंह और भगवती चरण के युग (1928-31) में 'नौजवान भारत सभा' बनी इसमें सुखदेव, एहसान इलाही, रामकिशन और यशपाल आदि भी थे। सदस्यों और इसके संरक्षकों में थे केदारनाथ सहगल, सैफुद्दीन किचलु, कवि लालचंद फलक आदि। इस सभा के संविधान में ये उद्देश्य रखे गये थे।

(1) भारतीय मजदूर और किसानों का एक पूर्ण गणराज्य स्थापित करना (2) राष्ट्रीयता के आधार पर नौजवानों में देश भक्ति की भावना उत्पन्न करना (3) आर्थिक, सामाजिक और औद्योगिक क्षेत्रों में ऐसे आन्दोलनों के साथ सहानुभूति रखना और उनकी सहायता करना, जो किसानों व मजदूरों के आदर्श गणतान्त्रिक राज्य की प्राप्ति में सहयोगी हों (4) किसानों और मजदूरों को संगठित करना।

### समाजवाद की स्थापना

इन उद्देश्यों से यह स्पष्ट होता है कि नौजवान भारत सभा के सामने समाजवाद की स्थापना और एक

धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र का सपना था। आगे चलकर भगत सिंह और उनके दल के लोगों ने अपनी पार्टी के नाम के साथ समाजादी शब्द जोड़ा और दिल्ली की केन्द्रीय असेम्बली में बम के साथ पर्चे फेंककर अपने क्रांतिकारी लक्ष्यों से जनता को अवगत कराया। जेल जाने पर मुकदमे में एक प्रश्न के उत्तर में भगत सिंह ने अपनी क्रांति और समाज निर्माण के अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते

हुए साफ तौर पर कहा : “क्रांति का लक्ष्य न तो रक्तपात है और न व्यक्तिगत द्वेष और न केवल बम या पिस्तौल है। क्रांति से हमारा मतलब है आज की शासन व्यवस्था को जिसकी आधारशिला अन्याय है,

बदलकर रख देना। उत्पादनकर्ता या मजदूर जो समाज का आवश्यक अंग है, का शोषक शोषण कर रहे हैं। उसके प्राथमिक अधिकारों का हनन कर रहे हैं। दूसरी ओर किसान जो अनाज पैदा करता है वह अपने परिवार सहित भूखा मर रहा है। बुनकर जो दुनियाभर की मंडियों को कपड़ों से पाट देता है उसे अपना तथा अपने बाल-बच्चों का तन ढकने का कपड़ा नसीब नहीं होता। बड़ई, राज तथा अन्य

कारिगर जो बड़े-बड़े महलों का निर्माण करते हैं, स्वयं गन्दी बस्तियों में सिसकते रहते हैं।”

### नये समाज का निर्माण

दूसरी ओर यह स्थिति है कि पूंजीपति शोषक तथा समाज के जोंक रूपी तत्व अपनी एक सनक पर ही लाखों बरबाद कर देते हैं। इस भीषण असमानता का जबरदस्ती निर्माण किया गया। असन्तुलन समाज में अराजकता का कारण होगा। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय नहीं टिक सकती। आज का समाज ज्वालामुखी के मुँह पर बैठा खरटि भर रहा है।

शोषक मासूम बच्चों की तरह लाखों की संख्या में खतरनाक कगार पर चल रहे हैं। सभ्यता की इस इमारत को समय पर न बचाया गया तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। इसलिए क्रांतिकारी परिवर्तन आवश्यक है। जो इसकी आवश्यकता समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे समाजवादी व्यवस्था के आधार पर नये समाज का निर्माण करें।

जब तक यह नहीं होगा, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण और राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का शोषण जारी रहेगा। दूसरे शब्दों में जब तक पूँजीवाद समाप्त नहीं किया जाता, तब तक मानवता के

भीषण कष्ट और विनाशों को रोका नहीं जा सकता। क्रांति से हमारा मतलब ऐसे समाज का निर्माण करना है जो इन सब आपदाओं

से मुक्त हों। ...क्रांति मानव का ऐसा अधिकार है जिसमें कोई समझौता नहीं। स्वतंत्रता हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। मजदूर समाज के वास्तविक स्तम्भ हैं। जनता की प्रभुसत्ता ही मजदूरों का चरम लक्ष्य है। इस उद्देश्य तथा सिद्धांत के लिए हम हर प्रकार के कष्टों को झेलने के लिए तैयार हैं। इस महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई भी त्याग बड़ा नहीं है। हम धैर्य से क्रांति की प्रतीक्षा करेंगे। ‘इन्कलाब जिन्दाबाद’



## चिंता या हस्तक्षेप

■ अरुण माहेश्वरी

अमेरिका के राष्ट्रपति बराक ओबामा ने भारत में अपने अंतिम भाषण में भारतीयों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करने वाली संविधान की उस धारा 25 की याद दिलाई जिस धारा को बदलना आज आरएसएस के प्रमुख उद्देश्यों में एक है। सऊदी अरब से अपने देश लौट कर एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रार्थना सभा में उन्होंने फिर से कहा कि भारत एक खूबसूरत देश है, लेकिन पिछले कुछ सालों से वहाँ तमाम लोगों के धार्मिक विश्वासों के प्रति जो असहिष्णुता बढ़ी है उससे, अगर महात्मा गांधी होते तो, उन्हें गहरा सदमा लगता।

एक विदेशी राष्ट्राध्यक्ष की, वह भी अमेरिका जैसे महाशक्तिशाली देश के राष्ट्राध्यक्ष की ऐसी बेबाक टिप्पणी से एकबारगी किसी को लग सकता है कि यह मर्यादा का उल्लंघन और भारत के अंदरूनी मामले में हस्तक्षेप है। लेकिन इस बात को समझने की जरूरत है कि आखिर ओबामा इतने उतावलेपन के साथ ऐसी बातों को क्यों दोहरा रहे हैं।

यह तो निश्चित है कि वे कोई हवाई बातें नहीं कर रहे हैं। भारत में जिस धार्मिक असहिष्णुता के बढ़ने की ओर ओबामा इशारा कर रहे हैं, वह कोई अमूर्त चीज नहीं है। उनका साफ संकेत उस धार्मिक असहिष्णुता की ओर है, जिसे फैलाने में आरएसएस अपने जन्मकाल से ही लगा हुआ है। ओबामा और अमेरिकी प्रशासन को इस बारे में रती भर संदेह नहीं है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी विकास और दूसरे प्रकार की तमाम आडंबरपूर्ण बातें कितनी भी क्यों न करें, अंततोगत्वा वे इसी संघ परिवार के एक अभिन्न अंग हैं। उन पर आरोप लगते रहे हैं कि 2002 के गुजरात जन-संहार के समय, मुख्यमंत्री रहते हुए, उन्होंने अपने संवैधानिक कर्तव्य से आंख मूंद ली थी।

अमेरिका दुनिया के उन प्रथम देशों में एक है जिसने 1950 के जमाने में ही आरएसएस के संगठन और उसकी विचारधारा के बारे में सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन करना शुरू कर दिया था। सीआइए द्वारा पोषित अमेरिकी संस्था 'इंस्टीट्यूट ऑफ पैसिफिक रिलेशन्स' के तत्वावधान में जेए कुरान जूनियर द्वारा किया गया शोध, 'मिलिटेंट हिंदुइज्म इन इंडियन पॉलिटिक्स : ए स्टडी ऑफ द आरएसएस' को आरएसएस के बारे में किया गया शायद अपने ढंग का पहला विस्तृत अध्ययन कहा जा सकता है। सन 1951 में ही कुरान के इस शोध का प्रकाशन हो गया था और तब से लेकर अब तक अमेरिकी सत्ता-संस्थान इसी के आधार पर

आरएसएस की हर गतिविधि का अद्यतन लेखा-जोखा रखता आ रहा है।

वर्तमान संदर्भ में थोड़ा अप्रासंगिक होने पर भी यहाँ यह बताना उचित होगा कि 1950 का वह समय दुनिया में शीतयुद्ध का समय था। उस समय किए गए इस शोध में भारत को 'स्तालिन एंड कंपनी' के हाथ से बचाने के एक कट्टर कम्युनिस्ट-विरोधी औजार के तौर पर भी आरएसएस को चिन्हित किया गया था। इसके बावजूद, इसमें एक सांस्कृतिक संगठन के आरएसएस के नकाब को तार-तार करते हुए उसके सांप्रदायिक राजनीतिक उद्देश्यों और उसके संगठन के गोपनीय, षड्यंत्रकारी चरित्र को बहुत ही वस्तुनिष्ठ ढंग से पेश किया गया था। इसके साथ ही, इस शोध के अंत में इस निष्कर्ष पर भी पहुंचा गया था कि 'ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें फिलहाल छोटी-सी शक्ति का यह संगठन भारत के सर्वोच्च आसन को पा ले।'

कुरान के उस शोध के प्राक्कथन की पहली पंक्ति ही थी : 'यह एक उग्रवादी हिंदू संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अध्ययन है जो भारतीय गणतंत्र में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए प्रयत्नशील है।' उन्होंने आगे लिखा : 'चूँकि (केंद्रीय) सरकार धर्मनिरपेक्ष नीति से प्रतिबद्ध है, इसीलिए आरएसएस के आदर्शों की खुली घोषणा से उसकी गतिविधियों पर पाबंदी लग सकती है। आरएसएस उस वक्त तक सरकार से बैर मोल लेना नहीं चाहता जब तक वह इस बात से आश्वस्त न हो जाए कि उसमें सरकार से निपट लेने की यथेष्ट शक्ति आ गई है।'

कुरान के उस शोध का तीसरा अध्याय था - 'आरएसएस का कार्यक्रम।' इसमें आरएसएस के संविधान की धारा 3 और 4 के उद्धरण के जरिए उसके घोषित लक्ष्यों का उल्लेख करने के बाद ही कुरान ने साफ शब्दों में लिखा था कि "इस संविधान से संघ को हिंदू समाज के जिस प्रकार के सुदृढ़ीकरण और पुनर्जीवीकरण को समर्पित बताया गया है, उसकी कोई साफ तस्वीर सामने नहीं आती। इसमें एक हिंदू राष्ट्र की उग्र तथा असहिष्णु पैरवी का कोई संकेत नहीं है। दरअसल, संघ के संविधान में औपचारिक तौर पर घोषित उद्देश्यों और संघ की वास्तविक योजनाओं में बुनियादी तौर पर फर्क है। उसके संविधान में उल्लिखित सहिष्णु हिंदू दर्शन तथा उसके सदस्यों में कूट-कूट कर भरे गए उन्मादपूर्ण हिंदू-परस्त और अहिंदू-विरोधी लक्ष्यों के बीच कोई संगति नहीं है। संविधान और उनका घोषित दर्शन संघ के वास्तविक

उद्देश्यों का धुँधला और छल भरा प्रतिबिंब ही है।”

आरएसएस का राजनीति से कोई संबंध न होने की बात को भी इसमें सरासर झूठ और हास्यास्पद कहा गया है। वह अपने को एक सांस्कृतिक संगठन कहता है, लेकिन संस्कृति से उसका तात्पर्य कभी भी वह नहीं रहा है जो आमतौर पर समझा जाता है। संस्कृति उसके लिए सिवाय राजनीतिक वर्चस्व कायम करने के, और कुछ नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आरएसएस के अपने आप में एक गुप्त ढंग से काम करने वाला राजनीतिक संगठन होने के बावजूद सारी दुनिया इस संगठन के विचारधारात्मक स्रोत, इसके काम करने के षड्यंत्रकारी तौर-तरीकों से भलीभांति परिचित है। अमेरिकी प्रशासन तो खासतौर पर लंबे अरसे से उस पर गहराई से नजरें टिकाए हुए है। यही वह प्रमुख कारण था कि अमेरिकी प्रशासन ने नरेंद्र मोदी को अमेरिका का वीजा नहीं दिया था। सरकार बना लेने के बाद भी, सिर्फ विकास-विकास का राग अलापने से आरएसएस स्वतःस्फूर्त ढंग से दुनिया की नजरों के संदेह के घेरे से बाहर नहीं आ गया है। ऊपर से, संघ परिवारियों के ‘घर-वापसी’ अभियान, अल्पसंख्यकों के उपासना-स्थलों पर हमलों और ऐसी दूसरी कारगुजारियों से यह संदेह का घेरा ज्यादा विस्तृत और गहरा ही हुआ है।

इसके अलावा, यह समझने की बात है कि 1950 से लेकर 1990 तक की दुनिया की परिस्थिति और आज की दुनिया की परिस्थिति में ज़मीन-आसमान का फर्क आ चुका है। 1990 में समाजवाद के पराभव के साथ ही शीतयुद्ध का वह काल समाप्त हो चुका था, जब सोवियत प्रभाव को रोकने के लिए अमेरिका ने जिन ताकतों का खुल कर प्रयोग किया उनमें धार्मिक कट्टरपंथी और जेहादी ताकतें भी शामिल थीं। इस मायने में भारत में भी आरएसएस को निश्चित तौर पर अमेरिकी समर्थन मिलता रहा था। 1990 के राम जन्मभूमि आंदोलन के समय सारी दुनिया में विश्व हिंदू परिषद की शाखाओं के फैलाव में अमेरिकी प्रशासन की कितनी भूमिका रही, इस पर शोध करने की जरूरत है। फिर भी, इतना तो सर्वविदित है कि राम मंदिर आंदोलन में अमेरिका से भारी मात्र में पैसा आया करता था।

लेकिन 1990 के बाद का अमेरिकी अनुभव इस बात का गवाह है कि जिन धार्मिक कट्टरपंथी ताकतों को उसने कम्युनिस्टों को रोकने के लिए पैदा किया था, वे ही परवर्ती दिनों में भस्मासुर की तरह अमेरिका के लिए ही खतरा बन गईं। इस नई सदी के प्रारंभ में ही, उन ताकतों ने न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को ढहा कर अमेरिका को ही अपने हमले का निशाना बना लिया।

सारी दुनिया के राजनीतिक टिप्पणीकारों ने तब एक

स्वर में कहा था कि 9/11 के बाद, अब दुनिया वैसी नहीं रही जैसी अब तक थी। ‘सभ्यताओं का संघर्ष’ की तरह की नई विचारधारात्मक दलीलें सामने आने लगीं और धार्मिक उग्रवाद अमेरिका के एक प्रमुख शत्रु के रूप में देखा जाने लगा। अफगानिस्तान, इराक, पूरा मध्य एशिया और पाकिस्तान का भी उत्तर-पश्चिमी सीमांत इलाका तब से लगातार धधक रहा है।

आज नरेंद्र मोदी, भारत और ओबामा के संदर्भ में इन चर्चाओं का तात्पर्य यही है कि जो धार्मिक कट्टरवाद किसी समय अमेरिकी विदेश नीति का एक प्रमुख औजार हुआ करता था, वही आज उसका शत्रु माना जाता है। और, नरेंद्र मोदी की विडंबना यही है कि वे जिस आरएसएस से निकले हैं, अमेरिकी दृष्टिकोण में आज के समय में वह कमोबेश वैसे ही तत्त्वों की श्रेणी में पड़ता है जिन्हें अमेरिका अपना प्रमुख शत्रु मान रहा है। यही कारण है कि ओबामा प्रधानमंत्री मोदी की सारी भंगिमाओं से परे, उनके राजनीतिक उत्स, भारत की मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों को लेकर कहीं ज्यादा सशंकित है। भारत की अंदरूनी राजनीति के और भी तमाम पहलुओं पर उनकी निगाहें लगी हुई हैं।

जहाँ तक भारत को एक विशाल बाजार के रूप में पाने का सवाल है, अमेरिका जानता है कि इस मामले में मनमोहन सिंह भी उसके कम सहयोगी नहीं थे। भारत में आर्थिक उदारवाद के अग्रदूत वे ही थे। और आज भी कॉंग्रेस अपनी उन नीतियों से जरा भी पीछे नहीं हटी है। इसके विपरीत, भारत जैसे एक एटमी शक्ति वाले विशाल देश में आरएसएस जैसी ताकत के उभार के दूरगामी परिणामों को लेकर वह और भी शंकित हो उठता है। भारत में मोदी जिस प्रकार सारी सत्ता को अपने हाथों में केंद्रीभूत करके पड़ोसी देशों पाकिस्तान, नेपाल आदि पर धौंस जमाने की कोशिश कर रहे हैं उससे भी एक जंगखोर विस्तारवादी शक्ति के उभार की अतिरिक्त आशंका पैदा होती है।

यह सच है कि अमेरिका भारत को अपनी सामरिक विश्व-रणनीति का हिस्सा बनाना चाहता है, लेकिन उतना ही बड़ा सच यह भी है कि वह यह काम पाकिस्तान की कीमत पर नहीं करना चाहता। उसका यही रुख इस बात का संकेत है कि एक विशाल, उन्मादित शक्ति के भरोसे वह इस क्षेत्र में अपनी कोई रणनीति तैयार करना नहीं चाहता। आरएसएस की विचारधारा से परिचित होने के नाते कोई भी इसमें एक और हिटलर के जन्म की आशंकाओं को देख सकता है, जिसने सारी मानवता के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लगा दिया था। इसीलिए ओबामा द्वारा भारत के संदर्भ में बार-बार धार्मिक असहिष्णुता का उल्लेख और महात्मा गाँधी का स्मरण अकारण नहीं है।

# परमाणु समझौते का गुब्बारा

■ सत्येंद्र रंजन

दिल्ली विधानसभा चुनाव के नतीजों का विश्लेषण करते हुए जिस एक पहलू की तरफ खूब ध्यान खींचा गया, वह आम लोगों में गहराती यह धारणा है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, लेकिन असलियत में कुछ हासिल नहीं होता। वे भव्य नजारे और ध्यानाकर्षक माहौल बनाने में तो कुशल हैं, लेकिन बात इसके आगे नहीं बढ़ती। गणतंत्र दिवस के मौके पर अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा की भारत यात्रा भी इस राय को मजबूत करने में मददगार बनी। उस दरम्यान 'मोदी-ओबामा दोस्ती' की छवि गढ़ने की सायास कोशिशें हुईं। दरअसल, ओबामा की यात्रा को बिना कामयाब बताए भारतीय प्रधानमंत्री को विश्व के प्रभावशाली नेता के रूप में पेश नहीं किया जा सकता था। तो बिना ब्यौरा दिए ओबामा की यात्रा को सफल घोषित कर दिया गया। इसके केंद्र में था, असैनिक परमाणु सहयोग समझौता। बताया गया कि व्यापारिक रूप से इस करार को लागू करने का रास्ता साफ हो गया है। और यह कुछ ऐसे जादुई अंदाज में हुआ है कि परमाणु दुर्घटना क्षतिपूर्ति कानून-2010 को बदले बगैर ही अमेरिकी कंपनियां भारत को रिएक्टर बेचने को तैयार हो जाएंगी!

इस दावे पर देश के कथित रक्षा विशेषज्ञों और सरकार के पैरोकारों के अलावा किसी ने यकीन नहीं किया। रिएक्टर बनाने वाली अमेरिकी कंपनियां भी अभी तक यही कह रही हैं कि वे मोदी-ओबामा के बीच बनी सहमति के बिंदुओं का अध्ययन कर रही हैं। भारतीय उद्योग जगत की स्थिति भी इससे अलग नहीं है। ओबामा के भारत से जाने के तकरीबन दस दिन बाद भारतीय विदेश मंत्रालय ने मोदी-ओबामा के बीच सहमति के बारे में स्पष्टीकरण जारी किया। इसमें बताया गया कि कैसे एटमी क्षतिपूर्ति कानून में बदलाव नहीं होगा, जबकि अमेरिकी कंपनियां चिंता-मुक्त हो जाएंगी। मगर इसके बाद भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग परिसंघ (फिक्की) ने एक बयान जारी कर कहा, 'मौजूदा परमाणु उत्तरदायित्व कानून के कारण देश में एटमी ऊर्जा कारोबार के भविष्य को बाधित करने वाले कुछ मुद्दों पर विदेश मंत्रालय के स्पष्टीकरण का उद्योग जगत स्वागत करता है। इसके बावजूद अनुत्तरित रह गए कुछ और सवालियों के जवाब दिए जाने की जरूरत है, जिन पर उद्योग जगत पूरी तरह आश्वस्त होना चाहता है।'

अब तक भारत को परमाणु रिएक्टर बेचने वाले अकेले देश रूस की भी यही राय है कि मोदी-ओबामा की सहमति को 'सफलता' कहना जल्दबाजी होगी। भारत में रूस के राजदूत अलेक्सांद्र कादाकिन ने एक अँग्रेजी अखबार को दिए इंटरव्यू में कहा- 'सफलता की बात करना अभी बहुत जल्दबाजी होगी, क्योंकि स्पष्टता का पूरा अभाव है और (अमेरिकी रिएक्टर वाले)

निर्माण-स्थलों पर काम की कोई शुरुआत नहीं हुई है। अभी तक यह बात सिर्फ वचन देने और वादों तक सीमित है और इनके साथ सुखबोध फैलाया गया है, लेकिन यह कूटनीति या वास्तविक राजनीति में बहुत अच्छी बात नहीं है।'

आखिर भारतीय विदेश मंत्रालय के स्पष्टीकरण से भी स्थिति साफ क्यों नहीं हुई? इसलिए कि मोदी सरकार ने यथार्थ को ढंकने या उसकी मनमानी व्याख्या करने की कोशिश की है। लेकिन इससे ओबामा कैसे प्रभावित हो गए? दरअसल, पच्चीस जनवरी को ओबामा और मोदी की हुई साझा प्रेस कॉन्फ्रेंस में इस्तेमाल किए गए शब्दों पर ध्यान दें तो साफ होता है कि परमाणु करार पर हुई सहमति उतनी बड़ी सफलता नहीं थी, जितना भारत में दिखाने की कोशिश की गई। मोदी ने कहा कि 'हम परमाणु करार पर व्यापारिक रूप से अमल करने की दिशा में आगे बढ़े हैं।' ओबामा ने कहा कि 'सहमति बनाने में सफलता' मिली है। बाद में तत्कालीन विदेश सचिव सुजाता सिंह ने कहा कि 'डील इज डन' यानी समझौता हो गया है। कूटनीतिक लिहाज से ये उलझाऊ बातें हैं।

गौरतलब है कि आखिरकार रिएक्टर और एटमी कल-पुर्जों को बेचने का करार वेस्टिंग हाउस इलेक्ट्रिक और जेरनल इलेक्ट्रिक हिटाची जैसी कंपनियों को करना है। सप्लायर कंपनियां ये हैं, जिन पर क्षतिपूर्ति कानून की धाराएं लागू होंगी। ये कंपनियां मोदी-ओबामा सहमति के तमाम बिंदुओं का गहन अध्ययन कर रही हैं और यह देख रही हैं कि अगर भविष्य में उनके बेचे रिएक्टरों से कोई हादसा हुआ तो क्या सचमुच उन पर मुआवजे की कोई देनदारी नहीं बनेगी?

इन्हीं कंपनियों का दबाव था, जिसकी वजह से क्षतिपूर्ति कानून के मुद्दे पर भारत को झुकाना ओबामा प्रशासन की प्राथमिकता बनी रही है। इस बारे में बिना कोई भ्रम बनाए सिर्फ गणतंत्र दिवस परेड देख कर ओबामा लौट जाते तो अमेरिका में उनसे इस यात्रा के औचित्य को लेकर कठिन प्रश्न पूछे जाते। आखिर जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर वे नई दिल्ली में कोई वैसा समझौता करने में विफल रहे, जैसा कुछ महीने पहले अपनी बेजिंग यात्रा के दौरान करने में वे सफल रहे थे। ऐसे में, इस बारे में सहमति का भ्रम बनाना उन्हें भी अपने माफिक लगा होगा।

सहमति या समझौते की सिर्फ दो सूरत हो सकती थी। पहला, यह कि अमेरिका अपनी जनता को सुरक्षा देने के भारतीय संसद के संप्रभु निर्णय को स्वीकार करते हुए क्षतिपूर्ति कानून को मानने पर तैयार हो जाता। दूसरी स्थिति यह हो सकती थी कि भारत सरकार इस कानून की दो धाराओं 17बी और 46 को बदलने पर राजी हो जाती। अमेरिकी कंपनियों को



ये धाराएं मंजूर नहीं हैं, तो ओबामा के लिए इस अधिनियम को मान लेना मुमकिन नहीं था। मोदी के सामने मुश्किल राज्यसभा में बहुमत का अभाव है। फिर यह मसला नाजुक है। दिसंबर 1984 के भोपाल गैस कांड, 2011 के फुकुशिमा हादसे और तमाम दूसरी औद्योगिक दुर्घटनाओं के बाद आमतौर पर सारी दुनिया और खासकर भारत में संभावित हादसों को लेकर विशेष संवेदनीशलता पैदा हुई है। इसके बीच मोदी सरकार अपने लिए भारी अलोकप्रियता को न्यूता देकर ही 2010 के उस कानून को बदलने का जोखिम उठा सकती है, जिसकी धाराओं को सख्त बनवाने में खुद भारतीय जनता पार्टी की बड़ी भूमिका थी। इसीलिए मोदी सरकार ने पिछले दरवाजे से रास्ता निकालने की कोशिश की।

दरअसल, विदेश मंत्रालय ने मोदी-ओबामा समझौते का जो ब्यौरा जारी किया, वह पहले लगाए गए अनुमानों के मुताबिक ही है। उससे पुष्टि हुई कि भारत सरकार ने रिपेक्टर बेचने वाली अमेरिकी कंपनियों को हादसे की जवाबदेही से मुक्त करने के यथासंभव प्रयास किए हैं। इसके लिए क्षतिपूर्ति कानून की उन दो धाराओं की आम समझ से अलग व्याख्या की गई, जिन पर अमेरिकी कंपनियों को आपत्ति है। इनमें पहली धारा 17(बी) है, जिसके तहत परमाणु संयंत्र की ऑपरेटर (संचालक) कंपनी को सप्लायर कंपनी से मुआवजा मांगने का हक है, बशर्ते दुर्घटना सप्लायर के कल-पुर्जों या सेवा में खामी के कारण हुई हो। नरेंद्र मोदी सरकार ने इसका समाधान यह निकाला कि भारत में परमाणु संयंत्रों की ऑपरेटर-सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनी एनपीसीआइएल (न्यूक्लीयर पॉवर कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड) खरीद-समझौते में सारा दायित्व खुद पर ले लेगी। फिर हादसे की स्थिति में मुआवजा देने के लिए भारत सरकार सात सौ पचास करोड़ रुपए देकर एक कोष बनाएगी और इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की पांच बीमा कंपनियां इतनी ही रकम डालेंगी।

इस तरह सारा मुआवजा भारतीय करदाताओं की जेब से जाएगा। इसके बाद धारा 46 का मुद्दा है, जिसके तहत दुर्घटना के पीड़ितों को भी सप्लायर कंपनी पर मुकदमा करने का अधिकार है। इस बारे में संसद में हुई बहस का हवाला देकर मोदी सरकार ने कहा कि पीड़ितों को सप्लायर कंपनी के खिलाफ और विदेशी अदालतों में मुकदमा करने का हक नहीं होगा। इस तर्क के मुताबिक इस अधिनियम से संबंधित विधेयक पर राज्यसभा में बहस के दौरान कथित तौर पर तत्कालीन सरकार ने ऐसी सफाई दी थी। इसके अलावा महाधिवक्ता एक स्पष्टीकरण देंगे, जो खरीद-समझौतों में जोड़ा जाएगा।

मगर धारा 46 की भाषा ऐसी नहीं है। यह धारा स्पष्ट शब्दों में कहती है कि हादसे की स्थिति में सप्लायर की जवाबदेही असीमित होगी। जाहिर है, इससे उलट किसी व्याख्या को अदालत में चुनौती दी जाएगी। सर्वोच्च न्यायालय अपने पहले के फैसलों में

व्यवस्था दे चुका है कि किसी कानून को लागू करने के लिए तय किए जाने वाले नियम या उनकी व्याख्या कानून की मूल भावना से अलग नहीं हो सकती। इसलिए यह सवाल कायम है कि क्या क्षतिपूर्ति कानून की मोदी सरकार की व्याख्या से अमेरिकी कंपनियां आश्वस्त होंगी? गौरतलब है कि यह व्याख्या कानूनन वाजिब पाई गई, तो फिर इसका लाभ अमेरिकी कंपनियों तक सीमित नहीं रहेगा। बल्कि फ्रांस, रूस या परमाणु उपकरण बेचने वाली किसी अन्य देश की कंपनियां अपने सौदों में भी इस फायदे की मांग करेंगी।

असली मुद्दा यह है कि मोदी सरकार उन विदेशी कंपनियों को इस तरह का लाभ देना क्यों चाहती है? भारत को बेशक बिजली की जरूरत है। उसके विभिन्न स्रोतों में परमाणु ऊर्जा भी एक विकल्प है। मगर स्रोत जो भी हो, उससे बिजली पाने के लिए अपने नागरिकों की हिफाजत की ऐसी अनदेखी क्यों होनी चाहिए?

अगर क्षतिपूर्ति की जवाबदेही तय रहती है तो कंपनियां सुरक्षा इंतजामों को लेकर अधिक सतर्क रहती हैं। वैसे हादसे कभी भी और कहीं भी हो सकते हैं, लेकिन क्या वैसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए एहतियात नहीं बरता जाना चाहिए? क्षतिपूर्ति का सारा बोझ भारत और यहाँ के करतादाताओं पर डालने की कोशिश कर आखिर मोदी सरकार देश की कैसी सेवा कर रही है?

इस संदर्भ में यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि पिछले वर्ष नरेंद्र मोदी जब अमेरिका गए थे तो उन्होंने न सिर्फ भारतीय, बल्कि दुनिया भर के गरीब मरीजों के लिए बड़ी चिंता पैदा कर दी। वे भारत की पेटेंट नीति के पुनर्मूल्यांकन के लिए कार्य-दल बनाने पर सहमत हो गए थे। जबकि भारतीय पेटेंट कानून विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक संपदा संरक्षण नियमों के तहत भी खरे उतरे हैं। इस बारे में नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिगलिट्ज ने हाल में लिखे एक लेख में कहा कि अगर अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को अपने बहुचर्चित हेल्थकेयर प्रोग्राम की सफलता सुनिश्चित रखनी है, तो ओबामा प्रशासन को भारतीय दवा उद्योग पर नकेल कसने की कोशिशों से बाज आना चाहिए।

वैसे भारतीय दवा उद्योग और मरीजों के हितों की रक्षा का दायित्व ओबामा का नहीं, बल्कि भारत सरकार का है। मगर संकेत हैं कि वह अपना सर्वोपरि कर्तव्य बड़े देशी उद्योगपतियों और बहुराष्ट्रीय निवेशकों के हितों की सेवा करना मानती है। यही सिलसिला परमाणु दुर्घटना क्षतिपूर्ति कानून के संदर्भ में आगे बढ़ाया जा रहा है। अब यह दायित्व भारत की सिविल जमात और नागरिकों पर है कि वे आम जन के हितों की रक्षा करें। इसका आरंभ शब्दांडबरो, समारोही भव्यता और माहौल के गुब्बारे की हवा निकालते हुए किया जा सकता है, जो वर्तमान सरकार की पहचान बने हुए हैं। समझने की बात यह है कि इन गुब्बारों की आड़ में देश के दीर्घकालिक हितों को खतरे में डाला जा रहा है।

# लोग हेल्थ कैंपों में जाते ही क्यों हैं?

■ अंजलि सिन्हा

स्वास्थ्य शिविरों में लापरवाही की घटनाएं रुकने का नाम नहीं ले रही हैं। पहले पंजाब के गुरुदासपुर के गुरुनानक मल्टीस्पेशलिटी अस्पताल में मोतियाबिंद के ऑपरेशन में कई लोगों की आँखों की रोशनी जाने की खबर मिली, फिर पड़ोसी राज्य हिमाचल प्रदेश के नूरपुर से इसी तरह का समाचार मिला। और अब मथुरा में भी एक ऐसी ही वारदात का पता चला है। वहाँ बारह लोगों ने एक कैंप में ऑपरेशन के दौरान अपनी आँखें गंवा दीं।

ऐसी घटनाओं के बाद हो-हल्ला मचने पर जाँच के आदेश दिए जाते हैं। एफआईआर दर्ज होती है। अधिक दबाव बना तो मुआवजे की घोषणा भी होती है। कई मामलों में डॉक्टर अरेस्ट भी हो जाते हैं। लेकिन स्वास्थ्य तंत्र में कोई बुनियादी सुधार नहीं होता। गौरतलब है कि छत्तीसगढ़ के बहुचर्चित नसबंदी मामले में उस डॉक्टर के खिलाफ कार्रवाई हुई, जिसने नसबंदी ऑपरेशन का रिकॉर्ड कायम किया था। जाँच में यह भी सामने आया था कि ऑपरेशन के बाद जो दवा दी गई वह मिलावटी थी। लेकिन इस कार्रवाई के बाद भी क्या गारंटी है कि आगे से इस तरह की लापरवाही नहीं होगी? क्या गरीब तबका निश्चित होकर इन शिविरों में जा सकता है? जवाब आसान नहीं है।

## थोक में इलाज

मोतियाबिंद जैसी बीमारी का थोक भाव में इलाज करने का एक चलन सा निकल पड़ा है। पहले इसका ऑपरेशन कठिन था, लेकिन अब नई तकनीक से यह काफी आसान हो गया है। दुर्भाग्य से निःशुल्क या मामूली शुल्क में इसकी सुविधा हर किसी को मयस्सर नहीं है। ऐसे में लोग सामूहिक इलाज का सहारा लेते हैं। ऑपरेशन शिविरों में प्री में इलाज करवाने का प्रचार अक्सर आता रहता है। कई संस्थाएँ धर्मार्थ ऐसा करती हैं। बड़ी तेजी से फैल रहे एनजीओ भी ऐसे शिविर लगाते रहते हैं। ऐसा तब भी होता था जब मेडिकल साइंस ने इतनी तरक्की नहीं की थी और एक नव स्वाधीन देश में यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि सरकारी अस्पतालों का नेटवर्क हर जगह पहुँचे। लेकिन आज भी इसका उसी स्वरूप में जारी रहना कई सवाल खड़े करता है।

ठीक है कि पिछड़े समाज में, जहाँ लोगों में जानकारी की कमी हो, वहाँ स्वास्थ्य के बारे में जागरूकता पैदा करने के लिए ऐसे कैंप लगाए जा सकते हैं, लेकिन हर किसी की इसी पर निर्भरता ठीक नहीं है। सवाल यह है कि ऐसे शिविरों की जरूरत ही क्यों पड़ती है जहाँ अस्थायी व्यवस्था के तहत एक साथ सैकड़ों लोगों का इलाज किया जाता हो? यह इस बात का सूचक है कि देश की स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच हर व्यक्ति तक

नहीं है। जनसंख्या की तुलना में हमारे पास पर्याप्त डॉक्टर नहीं हैं। गाँवों-शहरों में स्वास्थ्य सेवाओं का ढाँचा जरूर खड़ा है पर उनमें जरूरी संख्या में स्टाफ मौजूद नहीं हैं, न ही उनकी सर्विस अच्छी क्वालिटी की है।

यह एक लोक कल्याणकारी राज्य की असफलता है कि वह अपने नागरिकों को स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराने में सक्षम नहीं है। फिर किस मुँह से हम विश्व की एक महाशक्ति बनने का दावा करते हैं? आज भी भारत उन देशों में है, जहाँ सरकारी बजट में स्वास्थ्य पर बहुत कम खर्च होता है। वर्ष 2011 का स्वास्थ्य बजट देखें तो वह महज 26,750 करोड़ रुपये था, यानी हर व्यक्ति के लिए पूरे साल में 200 रुपये से ज़रा ज़्यादा। जीडीपी की करीब 1.2 फीसद निकलने वाली इस रकम की तुलना अगर चीन से करें तो वहाँ का हेल्थ बजट जीडीपी का तीन फीसदी है। और अमेरिका की तो बात ही जाने दें, क्योंकि वहाँ यह 8.3 प्रतिशत है। विशेषज्ञों का मानना है कि स्वास्थ्य पर सरकारी खर्च जीडीपी का कम से कम 2-3 फीसदी होना चाहिए। विश्व स्वास्थ्य संगठन इसे जीडीपी के 5 फीसदी से कम नहीं चाहता।

ध्यान रहे, पिछले तीन सालों से इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया है। उलटे हम यह भी देख रहे हैं कि एनडीए की सरकार सामाजिक कल्याण की मदों में लगातार कटौती कर रही है। सरकार की दलील है कि वह 2014-15 के बजट के घाटे को कम करने के लिए ऐसा कर रही है। एक तरफ सरकार स्वास्थ्य क्षेत्र में कम खर्च कर रही है, दूसरी ओर भारत के स्वास्थ्य उद्योग पर निजी खिलाड़ियों का दबदबा बढ़ता जा रहा है। इस सेक्टर की सालाना बढ़ोत्तरी की दर 15 फीसदी है! नतीजे साफ हैं। भारत में नवजातों की मृत्यु दर पड़ोसी देश बांग्लादेश से भी ज्यादा है। डायरिया/पेचिश जैसी बीमारी से हमारे यहाँ हर साल दस लाख से अधिक बच्चे मरते हैं। स्वास्थ्य के मामले में मिलेनियम गोल से हम कोसों पीछे रह गए हैं।

## इच्छाशक्ति नहीं

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि भारत के पास संसाधनों की कमी है। दरअसल यह राजनीतिक इच्छाशक्ति का सवाल है। देश का असरदार तबका प्राइवेट सेक्टर में इलाज करवा लेता है, इसलिए गवर्नमेंट पर अपनी स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने का दबाव नहीं पड़ता। राजनीतिक मुद्दा यह कभी नहीं बन पाता। एक छोटा सा देश क्यूबा अगर भारी आर्थिक संकट और अमेरिकी घेरेबंदी की मार झेलते हुए भी हर नागरिक को स्वास्थ्य का अधिकार दिलाने में और विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक दुनिया के लिए नजीर बन सकता है, तो भारत ऐसा क्यों नहीं कर सकता?

## कुछ यादें खड़ी-मीठी

■ प्रभा

मैं प्रभा मैं जौनपुर जिला के गाँव खजुरहट में पैदा हुई। होश संभालते ही काम की जिम्मेदारियाँ को निभाना शुरू किया। तीन बहन, एक भाई, हमारे अम्मा व बाबूजी इतने लोगों का एक छोटा सा परिवार था। हमारे पिताजी रिक्शा चालक थे। पहले तो किराये का रिक्शा चलाकर परिवार खर्च चलाते थे।

फिर मेरी माँ ने किसी प्रकार से पैसा जुटाकर बाबूजी के लिए एक रिक्शा खरीद दिया और बाबूजी उसी से परिवार खर्च चलाया करते थे। मैं चमार जाति की हूँ और हमारे यहाँ ठाकुरों की मजदूरी किया करते थे। हम घर के काम के साथ-साथ ठाकुर के यहाँ भी मजदूरी करने जाया करते थे। हमारी अम्मा ने हम

लोगों का नाम स्कूल में दाखिल करवा दिया। घर का काम, फिर मजदूरी करने, खेत का काम करने के बाद किसी प्रकार समय निकाल कर मैं स्कूल भी जाया करती थी। पढ़ने में बहुत कमजोर थी, मगर बचपन से ही मैं बहुत तेज़ स्वभाव की थी। स्कूल में जब लड़कियों से कहीं बात होती तो सब लड़कियाँ चमार कह कर हमको चिढ़ाती थीं और मेरा मज़ाक भी उड़ाती थीं।

जो लड़कियाँ हमारे साथ पढ़ाई करती थीं उन्हीं के खेत में हमको मजदूरी करने जाना पड़ता था और यह हमको बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था फिर भी जाना पड़ता था। जब मैं स्कूल आती तो लड़कियाँ हमारा मज़ाक उड़ाती थीं। और सभी लड़कियों को बता देती थीं कि यह हमारे खेत में काम करने गयी थी। मगर हमारे स्कूल में कुछ लड़कियों से हमारी दोस्ती की वजह से वे सभी हमारे पक्ष में खड़ी हो जातीं और लड़ पड़ती थीं

कि मजदूरी करके खाना गलत नहीं है और तुम लोग यह सोचो कि काम करने के बाद प्रभा स्कूल आती है अगर तुम लोगों को कहा जाए तो तुम नहीं कर पाओगी। हमारे घर तीन भैंसों भी पाली गयी थीं। हम लोग भैंस के लिए चारा काटते, गोबर की उपली बनाते

इसके अलावा खेत का पूरा काम करते। धान लगाना, धान की निराई करना, गेहूँ काटना, उसकी मड़ाई करना, गन्ना लगाना, उसकी गुड़ाई करना व खेत का जो भी काम हो सभी काम करना पड़ता था।

मैं एक बार गाँव के ठाकुर के यहाँ धान की पिटाई करने गयी थी। उसकी बहू ने मुझसे कहा कि प्रभा आज हमारे घर की लिपाई कर दो। मुझको

बहुत बुरा लगा था और मैं उस दिन खूब रोई थी। पूरा दिन खाना नहीं खाई थी और अपनी माँ से भी लड़ गयी थी। मेरी अम्मा ने हमको समझाया और ठाकुर की बहू से बात की कि जो भी काम हो आप हमसे करवा लिया कीजिए हमारी बेटी से नहीं कहा करिये नहीं तो वह सवाल जवाब करेगी तो आपको बुरा लगेगा।

मैं कक्षा 10 की परीक्षा देने गयी। रोज़ हमारा पेपर ठीक हो जाता था। हमारे अम्मा बाबूजी हमारे भाई को कोई काम नहीं करने देते और उसको जौनपुर में रहकर पढ़ाई करने भेज दिये थे। हमारा भाई हमेशा यही कहता था कि 10 की परीक्षा में यह फेल हो जाएगी और इसकी पढ़ाई यहीं पर छुड़वा दी जाएगी। पर जब हमारा रिजल्ट आया तो हम पास हो गये थे फिर जब हम आगे पढ़ाई करने को कहे तो हमारे परिवार में सब मना करने लगे कि और नहीं पढ़ सकती क्योंकि अगर

इसको आगे पढ़ाया तो इसकी शादी के समय दिक्कत हो जाएगी क्योंकि यह और पढ़ी तो पढ़ा-लिखा लड़का खोजना होगा और पढ़ा-लिखा लड़का दहेज ज्यादा मांगेगा तो शादी करने में मुश्किलें आएँगी।

मैं खूब रोई, खूब चिल्लाई और दो दिनों तक बिना खाये पिये पूरा दिन खेत में काम किया। फिर हमारी बड़ी बहन ने हमारी अम्मा से बात की कि वह घर खेत का पूरा काम करती है तो तुमको इसको पढ़ाना चाहिए। तुम लोग हमारी शादी जल्दी किये और हमारी पढ़ाई छुड़वाई मगर यह पढ़ना चाहती है तो पढ़ाओ। मेरी अम्मा ने बहन की बात मानकर हमको आगे पढ़ने के लिए कह दिया। हम मजदूरी करके अपनी पढ़ाई का खर्च स्वयं उठाते थे और घर से 6 किलोमीटर रोज पैदल चलकर आते-जाते थे पढ़ाई करने। जब हम 12वीं पास हो गये तो हमारे घरवाले हमारी शादी करने के लिए लड़का खोजने लगे। हमारी माँ पढ़ी-लिखी नहीं थी मगर बहुत समझदार थी। 12वीं के बाद हमारे कहने से उन्होंने हमको सिलाई भी सिखवाया और फिर हमारी एक गरीब घराने में शादी हो गयी। मैं परिवार की ज़िम्मेदारियों में फँस गयी। एक साल बाद हमको एक बेटा पैदा हुआ और मैं बड़ा परेशान रहने लगी फिर मेरी अम्मा हमको मायके बुलवा ली। किसी प्रकार से हमको महिला समाख्या नाम की एक संस्था में काम मिला। हमको आगे पढ़ाने में मेरी माँ और बड़ी बहन की सबसे बड़ी भूमिका थी।

जब मुझको लगा कि हमको अब कोई भी काम करके अपनी और अपने बच्चे की परवरिश किसी प्रकार करनी है तो मैंने महिला समाख्या में शिक्षिका के पद पर काम करना शुरू किया जिसके लिए हमको एक हज़ार रुपया मानदेय देना तय किया गया था। मैं अपनी पहली तनखाह के रूप में 600 रुपये पायी थी पर एक माह आवासीय कैंप चलाने के बाद वह आवासीय कैंप बंद हो गया। कुछ दिन बाद बटनहित गाँव में महिला और किशोरियों के बीच गाँव में जाकर कैंप चलाने का काम मिला। मैंने वहाँ पर अच्छे से कैंप चलाया और 4 लड़कियों व एक महिला को कक्षा 5 की परीक्षा भी दिलायी। इस प्रकार से मैं रोज गाँव जाकर महिलाओं और लड़कियों के बीच कुछ सीखती व

सिखाती। महिला समाख्या की तरफ से मैंने कुल 3 गाँव में केंद्र चलाया। अनुदेशिका के रूप में मैं सेमरहो गाँव में केंद्र चला रही थी तभी समाख्या में सहयोगिनी का पद निकला जिसके लिए मैंने भी परीक्षा दी और परीक्षा के बाद मुझे सहयोगिनी पद के लिए नियुक्त किया गया। जब मुझे सहयोगिनी का पद मिला तो मुझे ऑफिस बुलाकर बताया गया कि हमारा कार्यक्षेत्र कौन और कहाँ है। अचानक समाख्या की गाड़ी से हमको मीरगंज के उसरहिया गाँव भेज दिया गया वहाँ जाने पर किसी से हमारा परिचय नहीं था। गाँव में मीटिंग की गयी। जो सहयोगिनी हमारे साथ गयी थी वह वापस आ गयी। गाँव में ही तुलसी नाम की महिला के घर रूके मगर पहली बार किसी अंजाने गाँव में अंजाने लोगों के बीच रूकना बहुत बुरा लग रहा था। मगर फिर वहीं गाँव में हमने किराये का मकान लिया और अपने काम को ज़िम्मेदारीपूर्वक निभाना चालू किया। कुछ माह में ही गाँव वालों पर हमारा और हमारे ऊपर गाँव वालों का बहुत भरोसा हो गया और गाँव से हमारा भी लगाव हो गया। किसी कारणवश हमने महिला समाख्या में जॉब छोड़ दी मगर आज भी महिला समाख्या में बिताया हर पल मैं याद करती हूँ और जिन गाँवों में हमने नियमित संपर्क किया व जो गाँव हमारे कार्यक्षेत्र में मिले वहाँ पर हमारा रिश्ता बना हुआ है। संघ महिलाएं जब कुछ कार्यक्रम करती हैं तो हमको याद करती हैं, बुलाती हैं और हम जाते हैं। हमारा रिश्ता हमेशा बना रहेगा।

जब हमारी पढ़ाई छुड़वाई गयी तो हमने जबरी रो-धोकर अपनी 12वीं तक की पढ़ाई की थी। तब हमने यह नहीं सोचा था कि आगे चलकर हमको किसी संस्था में जॉब मिल जायेगी या मैं नौकरी करूँगी या हमारा बहुत सारी जगहों पर आना जाना होगा। बहुत सारे लोगों से मिलना पड़ेगा। हमारे घर-परिवार की सारी ज़िम्मेदारी हमको ही देखनी पड़ेगी। अब जब मैं कहीं बाहर आती जाती हूँ ज्यादा लोगों से मिलती-जुलती हूँ तो बहुत खुशी मिलती है। इस समय मैं आई.एस.डी. नाम की संस्था में जॉब कर रही हूँ। अपनी संघर्षभरी जिंदगी को रुकने नहीं दिया संघर्ष अभी भी जारी है।

# टीपू सुल्तान से नफरत, नाथुराम गोडसे से प्यार

आखिर मैसूर का शेर केसरिया पलटन को आज भी क्यों खौफनाक लगता है

■ सुभाष गाताडे

केसरिया पलटन ने फिर एक बार उसी कारनामे को अंजाम दिया है। उन्होंने फिर एक बार महान टीपू सुल्तान (20 नवम्बर 1750-4 मई 1799) - जो उन गिने-चुने राजाओं में थे जिन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते हुए युद्ध के मैदान पर वीरगति प्राप्त की थी - की विरासत पर प्रश्न चिन्ह खड़े करने की कोशिश की है। श्रीरंगपट्टनम की ऐतिहासिक लड़ाई में मौत का वरण किए टीपू सुल्तान की शहादत 1857 के महासमर के लगभग पचास साल पहले हुई थी। और बहुत कम लोग हकीकत से वाकिफ हैं कि ब्रिटिशों के खिलाफ संघर्ष में टीपू सुल्तान ने अपने दो बच्चों को भी खोया था।



उनके झंझावाती जीवन का एक प्रसंग जो स्पष्ट तौर पर हिन्दुत्ववादी संगठनों द्वारा प्रचारित की जा रही उनकी छवि के विपरीत दिखता है, उसकी चर्चा करना समीचीन होगा। वह 1791 का साल था जब मराठा सेनाओं ने शृंगेरी शंकराचार्य मठ और मंदिर पर हमला किया, वहाँ के तमाम कीमती सामानों की लूटपाट की और कइयों को मार डाला। पदासीन शंकराचार्य ने टीपू सुल्तान से सहायता माँगी, टीपू ने तत्काल बेदनूर के असफ को निर्देश दिया कि वह मठ की मदद करे। शंकराचार्य और टीपू सुल्तान के बीच हुआ पत्राचार, जिसमें तीस पत्र शामिल हैं तथा जो कन्नड़

हिन्दुत्व ब्रिगेड द्वारा टीपू सुल्तान पर लांछन लगाने का फौरी कारण यही दिखता है कि पिछले दिनों कर्नाटक सरकार ने टीपू जयन्ती मनाने का फैसला लिया है। प्रख्यात इतिहासकार और टीपू के अध्येता प्रोफेसर बी शेख अली की नयी किताब 'टीपू सुल्तान : ए क्रूसेडर फार चेंज' के विमोचन के वक्त मुख्यमंत्री सिद्धरमैया ने पिछले दिनों यह एलान किया था।

अपने वक्त से बहुत आगे चल रहे टीपू, जो विद्वान, फौजी एवं कवि भी थे, वह हिंदू मुस्लिम एकता के हिमायती थे, उन्हें नयी खोजों के प्रति बहुत रुचि रहती थी और उन्हें दुनिया के पहले युद्ध रॉकेट का अन्वेषक कहा जाता है। टीपू फ्रेंच इन्कलाब से भी प्रभावित थे और मैसूर का शासक होने के बावजूद अपने आप को नागरिक के तौर पर सम्बोधित करते थे और उन्होंने अपने राजमहल में 'स्वतंत्रता' के पौधे को भी लगाया था। इतिहास इस बात का गवाह है कि टीपू ने अंग्रेजों के इरादों को बहुत पहले भाँप लिया था और घरेलू शासकों तथा फ्रेंच, तुर्क और अफगान शासकों से रिश्ते कायम करने की कोशिश की थी ताकि अंग्रेजों के वर्चस्ववादी मंसूबों को शिकस्त दी जा सके और उन्होंने अपनी बेहतर योजना और उन्नत तकनीक के बलबूते दो बार ब्रिटिश सेना को शिकस्त दी थी।

भाषा में उपलब्ध है, उसकी खोज मैसूर के पुरातत्व विभाग ने 1916 में की थी। मठ पर हुए हमले को लेकर टीपू लिखते हैं :

*ऐसे लोग जिन्होंने इस पवित्र स्थान का अपवित्रीकरण किया है उन्हें अपने कुकृत्यों की इस कलियुग में जल्द ही सज़ा मिलेगी, जैसे कि कहा गया है 'लोग शैतानी कामों को हंसते हुए अंजाम देते हैं, मगर उसके अंजाम को रोते हुए भुगतते हैं।' (हसदम्भी क्रियते कर्मा रुदादभिर अनुभूयते)*

इसमें कोई दोराय नहीं कि टीपू जयन्ती मनाने का प्रस्ताव दक्षिणपंथी संगठनों को नागवार गुजरा है, राज्य में प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा ने इसे 'वोट बटोरने' का हथकंडा कहा है। उनके एक वरिष्ठ नेता ने टीपू को 'जुल्मी तानाशाह' के तौर पर सम्बोधित करते हुए प्रस्तावित कार्यक्रम के औचित्य पर ही सवाल खड़े किए हैं। भाजपा के एक अन्य वरिष्ठ नेता डी एच शंकरमूर्ति ने उन्हें 'कन्नड़ विरोधी' कहा है क्योंकि वह 'कन्नाडिगा' नहीं थे। उनका यह भी आरोप है कि टीपू के राज सम्भालने पर राज कारोबार की भाषा के तौर पर कन्नड़ के स्थान पर पर्शियन का इस्तेमाल उन्होंने शुरू किया। वैसे अगर याददाश्त पर थोड़ा जोर देने की कोशिश करें तो पता चल

सकता है कि यह वही सज्जन हैं, जिन्होंने उच्च शिक्षा मंत्री के पद पर रहते हुए - जबकि भाजपा और जनता दल (सेक्युलर) साझा सरकार चला रहे थे - यह एलान कर दिया था कि वह कन्नड़ इतिहास से टीपू का नामोनिशान हटा देना चाहते हैं। यह अलग बात है कि बढ़ते जनक्रोध के चलते सरकार को इस योजना को मुलतवी करना पड़ा था।

याद रहे कि अभी पिछले ही साल जब कर्नाटक सरकार ने यह निर्णय लिया कि 26 जनवरी की दिल्ली की परेड में टीपू के सम्मान में झँकी निकालेंगे, तब भी इन ताकतों ने उसका विरोध किया था। यहाँ तक कि जब तत्कालीन संप्रग सरकार ने श्रीरंगपट्टनम जहाँ टीपू शहीद हुए थे, वहाँ एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय उन्हीं के नाम से खोलने का प्रस्ताव रखा था, तब भी इन ताकतों ने उसका विरोध किया।

दो साल पहले जब कर्नाटक में तब सत्तासीन रही भाजपा सरकार की उलटी गिनती शुरू हो चुकी थी, भाजपा के एक अन्य महारथी ने - जो उन दिनों राज्य के शिक्षामंत्री थे - बेहद बेशर्मी के साथ टीपू की अंग्रेजों से तुलना की थी और उनकी तरह टीपू को भी “विदेशी” घोषित किया था। (डीएनए, जनवरी 25, 2013)

यह देखना समीचीन होगा कि आखिर हिन्दुत्व ब्रिगेड के लोग टीपू सुलतान से क्यों नफरत करते हैं और उनके आरोपों का क्या आधार है? मगर इस पर रौशनी डालने के पहले यह देखना उचित रहेगा कि किस तरह ब्रिटिशों की ‘बाँटो और राज करो’ की नीति के तहत इतिहास के विकृतिकरण का काम टीपू सुलतान को लेकर लम्बे समय से चल रहा है। इस सन्दर्भ में हम राज्यसभा में दिए गए प्रोफेसर बी एन पांडे के भाषण को देख सकते हैं, जो उन्होंने 1977 में ‘साम्राज्यवाद की सेवा में इतिहास’ के शीर्षक के साथ प्रस्तुत किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर रहे बी एन पाण्डे, जो बाद में उड़ीसा के राज्यपाल भी बने, उन्होंने अपने अनुभव को साझा किया। अपने भाषण में 1928 की घटना का उन्होंने विशेष तौर पर जिक्र किया।

उनके मुताबिक “जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वह प्रोफेसर थे तब कुछ विद्यार्थी उनके पास आए और उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी किताब दिखाई, जिसमें बताया गया था कि टीपू ने तीन हजार ब्राह्मणों को इस्लाम धर्म स्वीकारने के लिए मजबूर किया वरना उन्हें मारने की धमकी दी। किताब में लिखा गया था कि इन ब्राह्मणों ने इस्लाम धर्म स्वीकारने के बजाय मौत को गले लगाना मंजूर किया। इसके बाद उन्होंने प्रोफेसर हरप्रसाद शास्त्री से सम्पर्क कर यह जानना चाहा कि इसके पीछे क्या आधार है? प्रोफेसर शास्त्री ने

मैसूर गैजेटियर का हवाला दिया। उसके बाद प्रोफेसर पांडे ने मैसूर विश्वविद्यालय के इतिहास के प्रोफेसर श्रीकान्तिया से सम्पर्क किया, तथा उनसे यह जानना चाहा कि क्या वाकई गैजेटियर में इस बात का उल्लेख है। प्रोफेसर श्रीकान्तिया ने उन्हें बताया कि यह सरासर झूठ है, उन्होंने इस क्षेत्र में काम किया है और मैसूर गैजेटियर में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है बल्कि उसका उल्टा लिखा हुआ है कि टीपू सुलतान 156 हिंदू मंदिरों को सालाना अनुदान देते थे और श्रृंगेरी के शंकराचार्य को भी नियमित सहायता करते थे।’

---

यह विडम्बनापूर्ण है कि नब्बे के दशक में भारतीय समाज के कुछ सदस्यों का आक्रामक हिन्दुत्व टीपू की छवि के विकृतिकरण में लगा है, जो हम देख सकते हैं कि इस उपमहाद्वीप के औपनिवेशिक ताकतों ने गढ़ी थी।

(ब्रिटेल्बैंक केट (1999) ‘टीपू सुलतानज सर्च फॉर लेजिटिमसी, दिल्ली : आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।)

वैसे जिसने भी टीपू सुलतान द्वारा हिन्दुओं और ईसाइयों पर किए गए कथित अत्याचारों पर लिखा है, वहाँ हम बता सकते हैं कि उन्होंने उसके लिए ब्रिटिश लेखकों - किर्कपैटिक और विल्क्स - की किताबों से मदद ली है। दरअसल लॉर्ड कार्नवालिस और रिचर्ड वेलस्ली के प्रशासन के साथ नजदीकी रूप से जुड़े इन लेखकों ने टीपू सुलतान के खिलाफ चली युद्ध की मुहिमों में भी हिस्सा लिया था और टीपू को खूंखार बादशाह दिखाना और ब्रिटिशों को ‘मुक्तिदाता’ के तौर पर पेश करने में उनका हित था।

अपनी रचना ‘द हिस्ट्री ऑफ टीपू सुलतान (1971, पेज 368) में मोहिबुल हसन टीपू के इस ‘दानवीकरण’ पर अधिक रौशनी डालते हैं। वह लिखते हैं :

आखिर टीपू को किन कारणों से बदनाम किया गया इसे जानना मुश्किल नहीं है। अंग्रेज उनके प्रति पूर्वाग्रहों से भरे थे क्योंकि वह उसे अपने सबसे ताकतवर और निर्भीक दुश्मन के तौर पर देखते थे और अन्य भारतीय शासकों के विपरीत उसने अंग्रेज कम्पनी की शरण में आने से इन्कार किया। उसके खिलाफ जिन अत्याचारों को जोड़ा जाता है वह कहानियाँ उन लोगों ने गढ़ी थी जो उससे नाराज थे या उसके हाथों मिली शिकस्त से क्षुब्ध थे, या युद्ध के उन कैदियों ने बयां की थी जिन्हें लगता था कि उन्हें जो सज़ा मिली वह अनुचित थी। कम्पनी सरकार ने उसके खिलाफ जो आक्रमणकारी युद्ध छेड़ा था, उसे उचित ठहराने वालों ने भी टीपू का गलत चित्रण पेश किया। इसके अलावा उसकी उपलब्धियों को जानबूझ कर कम करके आँका गया और उसके चरित्र को सचेतन तौर पर एक खलनायक के तौर पर पेश किया गया ताकि मैसूर के लोग उसे भूल जाएं और

नए निज़ाम का सुदृढीकरण हो सके।

दरअसल इतिहास का यह एकांगी चित्रण महज टीपू को लेकर ही सही नहीं है। अगर गहराई में जाएं तो हम पाते हैं कि औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को जिस तरह समझा और पेश किया और जिस तरह साम्प्रदायिक तत्वों ने अपनी सुविधा से उसका प्रयोग किया, उसमें आन्तरिक तौर पर गहरा सामंजस्य है। अपनी चर्चित किताब 'द हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इंडिया' में जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास को तीन कालखण्डों में बांटा था, हिंदू, मुस्लिम और ब्रिटिश। यह समस्याग्रस्त चित्रण न केवल बौद्ध, जैन तथा अन्य परम्पराओं, समूहों के योगदान को गायब कर देता है बल्कि वह बीते कालखण्ड के प्रति बहुत समरूप दृष्टिकोण पेश करता है, गोया तत्कालीन समाज में अन्य कोई दरारें न हों। अपने एक साक्षात्कार में प्रोफेसर डी एन झा इस प्रसंग पर रौशनी डालते हैं (www.countercurrents.org)

जब मजुमदार ने भारतीय इतिहास पर कई खण्डों में विभाजित ग्रंथ प्रकाशित किया तब उन्होंने "हिंदू कालखण्ड" पर अधिक ध्यान दिया और इस तरह पुनरूत्थानवाद और साम्प्रदायिकता को हवा दी। इन औपनिवेशिक इतिहासकारों ने जो साम्प्रदायिक इतिहास गढ़ा उसी ने इस नज़रिये को मजबूती प्रदान की कि मुसलमान "विदेशी" हैं और हिंदू "देशज" हैं।

आजादी के बाद का इतिहास लेखन, जिसने औपनिवेशिक कालखण्ड के लेखन से बहुत कुछ लिया, उसने "महान भारतीय अतीत" की बात की। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके विचारक इसी "महान भारत" के मिथक को प्रचारित करने में लगे हैं। प्रोफेसर डी एन झा आगे बताते हैं :

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मुस्लिम विरोधी समझदारी एच एम इलियट और जान डॉसन जैसे औपनिवेशिक इतिहासकारों की देन है जिन्होंने 'द हिस्टरी ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स' जैसी किताब को संकलित किया। उन्होंने मुसलमानों की भर्त्सना की, यह कहा कि उन्होंने मंदिरों का विनाश किया और हिन्दुओं को दंडित किया। इलियट के सूत्रीकरण का वास्तविक मकसद था 19वीं सदी के लोगों में साम्प्रदायिकता का विषारोपण करना।

अब यह बात इतिहास हो चुकी है कि उपनिवेशवादियों ने किस तरह अपने सामराजी हितों को बढ़ावा देने के लिए हमारे इतिहास का विकृतिकरण किया, हमारे विद्रोहों को कम करके आंका, हमारे नायकों को खलनायक के तौर पर प्रस्तुत किया, हमारे स्वतंत्रता सेनानियों को लुटेरे, आतंकी कहा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठन के लिए, जिन्होंने उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष से दूरी बनाए रखी और जो दरअसल ब्रिटिशों के खिलाफ खड़ी हो रही जनता की

व्यापक एकता को तोड़ने में मुब्तिला था, उसकी तरफ से टीपू को लेकर जो आपत्तियां उठायी जा रही हैं, इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है। दरअसल टीपू सुलतान को बदनाम करके, जिनकी पूरे भारत के जनमानस में व्यापक प्रतिष्ठा है, उन्हें यही लगता है कि वह उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में अपनी शर्मनाक भूमिका पर चर्चा से बच जाएंगे। मगर क्या उन तमाम दस्तावेजी सबूतों को भूला जा सकता है जो इस कड़वी सच्चाई को उजागर करते हैं कि हेडगेवार - संघ के संस्थापक सदस्य और गोलवलकर, जो उसके मुख्य विचारक रहे, जिन्होंने संगठन को वास्तविक आकार दिया, उन्होंने समय-समय पर संघ के सदस्यों को ब्रिटिश विरोधी संघर्ष में शामिल होने से रोका।

क्या इस बात को कोई भूल सकता है कि विनायक दामोदर सावरकर, जो संघ परिवार के प्रातःस्मरणीयों में शुमार हैं, उन्होंने उस वक्त बर्तानवी सेना में हिन्दुओं की भर्ती की मुहिम चलायी, जब भारत छोड़ो आन्दोलन के दिनों में ब्रिटिश सत्ता के सामने जबरदस्त चुनौती पेश हुई थी। उनका नारा था 'सेना का हिन्दुकरण करो, हिन्दुओं का सैनिकीकरण करो।' यह वही वक्त था जब सुभाषचन्द्र बोस की अगुआई में बनी आज़ाद हिन्द फौज ब्रिटिश सेनाओं से लोहा ले रही थी। इतना ही नहीं यह वही समय था जब हिन्दु महासभा और अन्य हिंदूवादी संगठन बंगाल और उत्तर-पश्चिम के प्रांतों में मुस्लिम लीग जैसे संगठनों के साथ साझा सरकार चला रहे थे। संघ-भाजपा के एक और रत्न जनाब श्यामाप्रसाद मुखर्जी, जिन्होंने संघ के सहयोग से बाद में भारतीय जनसंघ की स्थापना की, उन्होंने उन दिनों हिंदू महासभा के सदस्य होने के नाते मुस्लिम लीग के शहीद सुरहावर्दी की अगुआई में बने मंत्रीमंडल में मंत्रीपद सम्भाला था। स्पष्ट है कि जब उपनिवेशवादी ताकतों से लड़ने का मौका था, तब केसरिया पलटन के लोग उससे दूर रहे और जब जनता के जबरदस्त संघर्षों के चलते ब्रिटिश शासन की वैधता पर प्रश्न चिन्ह खड़े हो रहे थे, कांग्रेस तथा बाकी सभी पार्टियों ने देश के विभिन्न सूबों में जारी उनकी सरकारों को इस्तीफे का आदेश दिया था, तब उसकी पालकी सजाने में मुस्लिम लीग तथा हिंदूवादी संगठन व्यस्त थे।

टीपू सुलतान की कुर्बानियों और उसकी दूरदेशी पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करने का यह सिलसिला एक तरह से हिन्दुत्व ब्रिगेड के सामने एक अन्य तरह के द्वंद को पेश करता है। उदाहरण के तौर पर हिन्दुत्व की ताकतों में परमप्रिय माने जाने वाले एक अन्य राजा के बारे में यह विदित है कि उसकी सेनाओं ने सूरत - जो उन दिनों व्यापारिक शहर था - कम से कम दो बार लूटा था, तो

फिर क्या वे उसे लुटेरे की श्रेणी में डालने को तैयार हैं? टीपू को धर्मांध कहलाने वाले लोग पेशवाओं की अगुआई में मराठों द्वारा श्रृंगेरी के शंकराचार्य के मठ एवं मंदिर पर किए हमले को लेकर उन्हें किस ढंग से सम्बोधित करने को तैयार हैं? अगर इतिहास के पन्नों को पलटेंगे तो हम पाएंगे कि ऐसी घटनाएं कोई अपवाद नहीं थी, उन्हें यह समझ में आएगा कि हिंदू राजाओं द्वारा सम्पत्ति की लालच में मंदिरों, मठों पर हमले और लूटपाट की घटनाएं कई पन्नों पर विखरी पड़ी हैं। टीपू सुलतान को विवादित बनाने में मुब्तिला यह ताकतें आखिर उन पेशवाओं के बारे में क्या सोचती हैं, जो एक किस्म का मनुवादी शासन का संचालन कर रहे थे जहां दलितों को अपने गले में माटी का घड़ा डाल कर चलना पड़ता था ताकि उनकी थूक भी कहीं रास्ते में गिर कर ब्राहमणों को 'अछूत' न बना दे।

---

हम लोग अखण्ड भारत माता और गोडसेजी के मंदिर की आधारशिला 30 जनवरी को रखना चाहते हैं, जिसे सीतापुर में बनाया जाएगा। हम लोग हिन्दु राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अखण्ड भारत हमारा लक्ष्य है। हम लोग उनकी अस्थियां तभी विसर्जित करेंगे जब उनके सपने को पूरा करेंगे। हिंदू महासभा के कार्यकारी अध्यक्ष कमलेश तिवारी ने हेडलाइन्स टुडे को बताया।

(<http://indiatoday.intoday.in/story/godse-temple-hindu-group-gandhi-killer-nathuram-ghar-wapsi-akhil-bharat-mahasabha/1/408811.html>)

'टीपू सुलतान से नफरत' करने की यह बीमारी - जो संघ तथा उसके आनुषंगिक संगठनों तथा अन्य समानधर्मा संगठनों में दिखती है और आए दिन उछाल मारती रहती है, उसे आज़ाद भारत के पहला आतंकवादी नाथुराम गोडसे के बढ़ते महिमामंडन की पृष्ठभूमि में देखना चाहिए। मालूम हो कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत करने वाले इस आतंकी के कारनामे को लेकर और उसके महिमामंडन को लेकर संघ परिवारी संगठनों ने अभी भी मौन बनाए रखा है। (देखें : <http://kafila.org/2013/11/15/first-terrorist-of-independent-india>)

मगर कई बार ऐसे मौके आते हैं जब यह मौन टूटता है और असलियत सामने आती है। मिसाल के तौर पर संसद का शीतकालीन सत्र जिन दिनों चल रहा था, उन

दिनों भाजपा के सांसद साक्षी महाराज ने गोडसे को राष्ट्रवादी और देशभक्त कह कर हंगामे को जन्म दिया था। अक्टूबर माह में ही संघ के मलयालम भाषा में निकलने वाले मुखपत्र में संघ के एक वरिष्ठ नेता ने यह लिखा था कि गोडसे को गांधी को नहीं बल्कि नेहरू को मारना चाहिए था। यह लेखक और कोई नहीं बल्कि भाजपा के टिकट से संसद का चुनाव लड़ा शख्स था और जैसे कि उम्मीद की जा रही थी संघ ने गोडसे के इस प्रगट समर्थक को डॉट तक नहीं लगायी।

अब जबकि गोडसे जैसे आतंकी के नाम पर देश के अलग-अलग भागों में मंदिर बनाने की कोशिशें चल रही हैं, इरादे बन रहे हैं, तब इस बात पर नए सिरे से निगाह डालना मौजूं होगा कि गोडसे द्वारा रची गयी साजिश के असली कर्ताधर्ता सावरकर थे। जीवनलाल कपूर आयोग ने, जिसने गांधी हत्या को लेकर नए सिरे से सबूत जुटाए, उसने इस महत्वपूर्ण साजिश को भी उजागर किया है।

'गोडसे के महिमामंडन' का यह ताज़ा सिलसिला और संघ एवं उसके आनुषंगिक संगठनों की कतार में इसे लेकर छाए मौन को दो ढंग से परिभाषित किया जा सकता है।

एक, संघ की कोशिश है कि वह अपने बुनियादी समर्थक तबके को यह सन्देश दे कि भले ही 'विकास' के नाम पर चुनाव भाजपा ने जीता हो, असली मकसद तो हिंदू राष्ट्र बनाना है, इसलिए उन्हें विचलित होने की आवश्यकता नहीं।

दूसरे, गांधी की हत्या में गोडसे एवं अन्य हिन्दुत्ववादी संगठनों की भूमिका और उस साजिश में सावरकर जैसों की संलिप्तता, यह ऐसे मसले हैं, जिन पर मौन रहना ही संघ परिवार को मुफीद जान पड़ता है। दरअसल उसे इस बात का एहसास है कि एक बार बात शुरू होगी तो दूर तलक जाएगी और उसे तमाम असुविधाजनक प्रश्नों का सामना करना पड़ सकता है। उसे पता है कि गोडसे-सावरकर जैसों की इस साजिश पर मौन से ही वह गांधी को समाहित करने की अपनी मुहिम में आगे बढ़ सकता है।

यह अलग बात है कि लोग धीरे-धीरे गोडसे के महिमामंडन के असली निहितार्थों के प्रति जागरूक हो रहे हैं और वह उनके नापाक मंसूबों को बेपर्द करने के लिए आगे आते दिख रहे हैं। पिछले दिनों मेरठ में आयोजित रैली जिसमें हजारों लोगों ने भाग लिया, दरअसल आनेवाले तूफानों का संकेत देती प्रतीत होती है।

### **isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com) / वेबसाइट : [isd.net.in](http://isd.net.in)

केवल सीमित वितरण के लिए